यूनिवर्सल लॉ

(धर्मध्यान सहित)

जो जीव, राग-द्वेषरूप परिणमित होने पर भी मात्र शुद्धात्मा में (द्रव्यात्मा में = स्वभाव में) ही 'मैंपन' (एकत्व) करता है और उसी का अनुभव करता है, वही जीव सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दर्शन वैराग्यादि योग्यताओं के बिना प्राप्त नहीं होता।

लेखक – C.A. जयेश मोहनलाल शेठ
(बोरीवली) B.Com., F.C.A.

-: भावार्थसहित नमस्कार मन्त्र :-

णमो अरिहंताणं	तीन काल के तीर्थंकर परमात्माओं एवं केवली परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो सिद्धाणं	तीन काल के सिद्ध परमात्माओं को बारम्बार नमस्कार हो
णमो आइरियाणं	तीन काल के आचार्यों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो उवज्झायाणं	तीन काल के उपाध्यायों को बारम्बार नमस्कार हो
णमो लोए सव्वसाहूणं	तीन काल के सभी साधुओं को बारम्बार नमस्कार हो
एसो पंचणमोक्कारो	यह पंचनमस्कार
सव्वपावप्पणासणो	सभी पापों का नाशक है
मंगलाणं च सव्वेसिं	सभी मंगलों में
पढमं हवइ मंगलं	यह प्रथम मंगल है

पञ्चपरमेष्ठीवन्दन श्लोक

अर्हन्तो भगवन्त इन्द्रमहिताः सिद्धाश्च सिद्धीश्वराः।
आचार्याः जिनशासनोन्नतिकराः पूज्या उपाध्यायकाः।
श्रीसिद्धान्तसुपाठका मुनिवराः रत्नत्रयाराधकाः।
पञ्चैते परमेष्ठिनः प्रतिदिनं कुर्वन्तु ते मङ्गलम्।।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ क्र.
१.	यूनिवर्सल लॉ	३
२.	धर्मध्यान	५५

● समर्पण ●

माता – पूज्य कान्ताबेन मोहनलाल शेठ, **पिता –** पूज्य स्वर्गीय मोहनलाल शेठ और **भ्राता –** श्री रश्मिनभाई मोहनलाल शेठ को

लेखक की अन्य कृतियाँ

सुखी होने की चाबी

सम्यग्दर्शन की विधि

निश्चय–व्यवहार स्पष्टीकरण

समयसार की समीचीन समझ

समयसार अभिनव टीका

सम्पादक – मनीष यशोधर मोदी

प्रकाशक – शैलेश पूनमचन्द शाह

www.jayeshsheth.com पर उपलब्ध हैं।

अपनी प्रति के लिये इस नम्बर पर वॉट्स अॅप करें – 98924 36799

टाईपसेटिंग : समीर पारेख - *क्रियेटिव पेज सेटर्स,* फोन : 83692 68695

मुद्रण : *नीलेश पारेख – पारस प्रिन्ट्स,* गोरेगाँव, मुम्बई फोन : 99691 76432

पुस्तक परिचय

जय जिनेन्द्र !

इस पुस्तक में दिये गये यूनिवर्सल लॉ अर्थात् ब्रह्माण्ड के सनातन नियम और धर्मध्यान लोगों के जीवन को शान्त, सरल और सुखी बनाने के लिये लिखे गये हैं। इनका उद्देश्य जीवन की ज्वलन्त समस्याओं के निराकरण में सहायक होना है। यह ग्रन्थ सहृदय साधर्मी भाई–बहनों को अनन्त दुःख देनेवाले राग–द्वेष से बचाने, वैर के विषचक्र का शमन करने और सम्यग्दर्शनरूपी शीतल जल से उनके उद्वेग को शान्त करने के लिये रचा गया है। साथ ही, तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्रणीत सत्यधर्म के मार्ग को सरल, स्पष्ट और सम्यक् रूप से प्रस्तुत करना भी इसका मुख्य उद्देश्य है।

आत्मा को अनन्त दुःखों से बचाकर अनन्त सुख प्राप्त करने के लिये साधक को निरन्तर अपनी आत्मा का ध्यान रखना आवश्यक है। इसी उद्देश्य से धर्मध्यान और यूनिवर्सल लॉ बताये गये हैं। अपनी आत्मा का पतन अनन्त दुःख में न हो और इस जन्म का उत्कृष्ट कार्य, अर्थात् सम्यग्दर्शन प्रकट करने की पात्रता तैयार हो, इसके लिये इस पुस्तक का उपयोग करना है।

अनादिकाल से हमने बाह्यक्रियारूपी धर्म तो अनेक बार किया है, परन्तु भगवान की आज्ञा पालने के रूप में आन्तरिक धर्म नहीं किया। इस पुस्तक में उसी आन्तरिक धर्म की स्पष्ट समझ प्रस्तुत की गयी है।

आपके जीवन में सम्यग्दर्शन का सूर्योदय हो, और उसके प्रकाश से आपको अव्याबाध सुखरूपी सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही हमारी अन्तरात्मा से उत्पन्न मंगलमय भावना है।

– जयेश मोहनलाल शेठ

१. यूनिवर्सल लॉ

अनादि से सभी जीव सुख की खोज में ही इस संसार में भटक रहे हैं। परन्तु जीव को अभी तक अन्तहीन अर्थात् कभी समाप्त न होनेवाला सुख मिला ही नहीं है, इसी लिये जीव अभी तक इस संसार में है। भगवान ने कहा है कि पूरा संसार जल रहा है। परन्तु हमें तो ऐसा कुछ दिखाई नहीं देता। तो पहले हम यह समझ लें कि किस प्रकार पूरा संसार जल रहा है। अनादि से संसाररत जीव मन में जल रहे हैं क्योंकि उन्हें कोई न कोई अभाव सता ही रहा है। उसी को भगवान ने संसार का जलना कहा है।

जलना अर्थात् आकुलता। दुःख की परिभाषा ही यह है कि दुःख आकुलतारूप होता है। आकुलता ही जलना (चिन्ता) है। अनादि से सभी जीव आकुलता से जल रहे हैं। परन्तु जब तक यह जलना जीव को दुःखरूप नहीं लगता तब तक वह उसका इलाज भी नहीं करता। क्योंकि उसे आकुलता अच्छी लगती है, उसमें मज़ा आता है। लोगों को लगता है कि हम तो बस मौज–मज़ा कर रहे हैं। इसलिये उन्हें सुख प्राप्त करने या सुख भोगने की यह आकुलता दुःखरूपी लगती ही नहीं। जीवन में जब तक ऐसा लगता है तब तक जीव उसका इलाज कराने डॉक्टर (ज्ञानी गुरु) के पास जायेगा ही नहीं, है न? क्योंकि अनादि से यही सब हमें अच्छा लगता आया है। भगवान जिसे आकुलतारूप दुःख कहते हैं, वही संसार के जीवों को अच्छा लगता है, तो वे उसका इलाज भला क्यों करेंगे? भगवान कहें तब भी नहीं करेंगे। इसी लिये हम अनादि

से इस संसार में सुख की खोज करते–करते भटक रहे हैं और उसके फलस्वरूप अनन्त दुःख भोगते हुए भटक रहे हैं।

संसार में जिसे हम सुख कहते हैं, उसे भगवान सुखाभास कहते हैं क्योंकि जो जीव ऐसा मानते हैं कि सुख बाहर से आता है, वे बाहर सुख के पीछे दौड़ने में ही यह पूरा अमूल्य मानव जीवन ख़र्च कर देते हैं। संसार के सुख का नियम ऐसा है कि जिसे दुःख अधिक हो, उसी जीव को सुख अधिक लगता है। जिस जीव को दुःख ही न हो, उसे सुख कम लगता है या सम्भव है कि दुःख भी लग सकता है। इस बात को हम एक उदाहरण से समझेंगे।

एक भाई दो दिन से भूखा था और दूसरे भाई अभी–अभी मनपसन्द भोजन पेट भरकर खाकर बैठे थे। यदि दोनों को मनपसन्द भोजन परोसा जाये तो जिन्हें दो दिन की भूख का दुःख है, उन्हें ही सुख अधिक लगेगा; परन्तु जो भाई पेट भरकर मनपसन्द भोजन करके बैठे हैं, उन्हें सुख नहीं लगेगा और यदि उन्हें आग्रहपूर्वक वही मनपसन्द भोजन फिर से खिलाया जाये तो सम्भव है कि वे दुःखी हो जायें, क्योंकि आग्रहपूर्वक अधिक खिलाने से उन्हें पेट की कई समस्याएँ हो सकती हैं या दस्त–उल्टी भी हो सकते हैं। इसलिये निश्चित होता है कि मनपसन्द भोजन में सुख नहीं है। यदि भोजन में सुख होता तो दोनों को समान सुख मिलना चाहिये। अतः एक बात निश्चित हुई कि जिसे दुःख अधिक, उसे सुख अधिक।

जैसे कोई अमीर व्यक्ति को पाँच हज़ार की लॉटरी लगे और साथ ही किसी ग़रीब मज़दूर को भी पाँच हज़ार की लॉटरी लगे तो किसे अधिक सुख मिलेगा? मज़दूर को ही अधिक ख़ुशी होगी, अधिक सुख मिलेगा क्योंकि उसे धन के अभाव का दुःख अधिक है। इससे निश्चित होता है कि जिसे दुःख अधिक, उसे सुख अधिक लगता है।

दूसरी बात, जो भाई दो दिन से भूखा था, वह भाई मनपसन्द व्यञ्जनों से अपनी थाली भरकर खाने बैठा तो प्रारम्भ में उसे सुख लगा; परन्तु जब आधा खाने के बाद उसका पेट भर गया, तब उसे थाली में बचा हुआ मनपसन्द भोजन न खा पाने का दुःख होने लगा। इससे निश्चित होता है कि जब अपेक्षित सुख मिलता है तो प्रारम्भ में सुख लगता है, परन्तु जब वह जीव तृप्त हो जाने के कारण उस सुख को भोगने में सक्षम नहीं रहता, तब भोग सामने होने पर भी स्वयं भोग न सकने का दुःख होने लगता है। इसे The Law of Diminishing Marginal Utility के रूप में जाना जाता है।

इस प्रकार संसार के सुख का स्वरूप ऐसा है कि जिसे पहले दुःख हो, उसी को वह सुखरूप लगता है और थोड़ा भोग लेने के बाद जब वह जीव उसे भोगने में सक्षम नहीं रहता तो उसका दुःख लगना प्रारम्भ हो जाता है। अर्थात् संसार के सुख पहले और बाद में दुःखयुक्त होते हैं और उन्हें भोगने की भावना से जो कर्म बँधते हैं, वे भी उस जीव को भविष्य में दुःख देते हैं। ऐसे पहले और बाद में दुःखवाले तथा भविष्य में दुःख देनेवाले को सुख कैसे कहा जा सकता है? परन्तु अनादि की उल्टी समझ के कारण हम उसे सुख मानते हैं और अनादि से उसकी प्राप्ति का ही पुरुषार्थ करते आये हैं। इस प्रकार हम अनादि से सुख के पीछे दौड़कर दुःख भोगते रहे हैं।

भगवान ने सुख भोगने की आकुलता को भी दुःख कहा है। परन्तु अनेक लोगों को वह सुख और सुख की खोज ही प्रतीत होती है। पर जिसे यह अनुभव होता है कि यह जो आकुलता है, वही दुःख है, वही जलना है, क्योंकि सभी जीवों के मन में यह आकुलतारूपी आग लगी हुई है; जब यह ज्ञात होता है कि सभी जीव भीतर से आकुलता

का दुःख भोग रहे हैं, जल रहे हैं, अर्थात् भीतर से ऐसा अनुभव होता है कि हाँ, आकुलता तो दुःख ही है, जो अब तक सुख ही लग रहा था; पर वह सुख नहीं, सुखाभास है अर्थात् सुख का सिर्फ़ आभास मात्र है, और इसलिये सभी उसे सुख मानकर ठगे जाते हैं– तब साधक उस दुःख के इलाज पर विचार करना प्रारम्भ करता है।

इसके लिये अपने भीतर यह जाँचना है कि मुझे यह आकुलता सुखरूपी लगती है या दुःखरूपी? अर्थात् यह भव–भव की भटकन रोगरूपी लगती है या नहीं? क्योंकि जब तक यह भवचक्र रोगरूप नहीं लगेगा, तब तक जीव भवचक्र से मुक्त होने का उपाय भी नहीं करेगा। इसलिये तब तक उस जीव पर यही एक समीकरण लागू होता है कि –एक समय का भ्रान्त सुख = अनन्तकाल का दुःख वास्तव में जो सुखाभासरूपी सुख है वह दुःख में फँसानेवाला एडवर्टाईज़मेंट यानी विज्ञापन ही है।

यह समीकरण अनन्तकाल से हम सब पर लागू है। क्योंकि अनादि से हमारा अधिकांश समय अनन्त दुःखमय निगोद में ही व्यतीत हुआ है और यदि इस भव में सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हो तो भविष्य का अनन्तकाल भी अनन्त दुःखमय निगोद में व्यतीत हो सकता है। जिसे पर में सुखबुद्धि है और जो पर के पीछे सुखप्राप्ति के लिये दौड़ता है, उसे अनन्तकाल का दुःख मिलना निश्चित है। तो अब आप सब निश्चय करें कि पर के प्रति सुखबुद्धि रखनी है या पर से सुखबुद्धि निकालनी है? इस पर में सुखबुद्धि के कारण जीव बहिरात्मा रहता है और इसलिये उसे आत्मप्राप्ति नहीं होती।

यदि इस आकुलता को दूर करना है तो हमें उसका उपाय सोचना होगा। आकुलता को दुःखरूपी माननेवाले बहुत कम लोग हैं, परन्तु उसे

सुख माननेवाले अधिक हैं। हम जो स्वाध्याय, चिन्तन, मनन और अपनी मनोवृत्ति के परिवर्तनरूपी उपचार करेंगे, वह आकुलता को दुःखरूप माननेवालों के लिये है। आकुलता को सुखरूप माननेवालों के लिये तो अनन्त संसार शेष है, क्योंकि उन्हें तो यह उपचार करने योग्य ही नहीं लगेगा। इसलिये जो आकुलता को दुःखरूप नहीं मानते, वे उपचार करेंगे ही नहीं। तो जिन्हें यह आकुलता और पर में सुखबुद्धि भविष्य के दुःखों की जननी लगती है, उनके लिये हम उपाय सोचेंगे।

अनादि से हमारी सबसे बड़ी भूल यह है कि हम सब अनादि से अपनी पहचान के विषय में ग़लत मान्यता में (mistaken identity में) जी रहे हैं। अपनी पहचान ही हम ग़लत समझ रहे हैं। और जिसका आधार ही ग़लत है उसका हश्र क्या होगा? यदि कोई इमारत बनायें और उसकी बुनियाद ही ग़लत हो तो उस इमारत का क्या होगा? वह कितने दिन खड़ी रहेगी? वह अधिक दिन खड़ी नहीं रहेगी, बल्कि देर–सवेर से गिर ही जायेगी।

इसी प्रकार हमने अपनी पहचान का जो आधार रखा है, वही ग़लत है। हम स्वयं को शरीर मानते हैं। कहने के लिये तो हम कहते हैं कि हम आत्मा हैं, परन्तु जब अपना व्यवहार देखते हैं तो पता चलता है कि हम क्या मानते हैं। स्वाध्याय करते हैं इसलिये शब्दज्ञान तो है कि हम आत्मा हैं। इसलिये बोलने के लिये बोलेंगे कि मैं आत्मा हूँ, पर वह सिर्फ़ जानकारी है। जानकारी और मान्यता में बहुत बड़ा अन्तर है। मान्यता श्रद्धा से आती है और श्रद्धा आत्मानुभूति से ही आती है। अन्यथा जब हमने भूतकाल में असंख्य बार दीक्षा ली, नौ पूर्व तक का जानकारीरूपी अध्ययन भी किया, तभी हमें आत्मानुभूतिरूपी सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिये था। परन्तु सम्यग्दर्शन कोई मानसिक, शाब्दिक, वाचिक या बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये पहले वैराग्यादि योग्यतासहित आत्मसन्मुखता आवश्यक है। उसके बिना जीव बहिरात्मा ही रहता है।

वैराग्यादि योग्यता के बारे में विस्तार से जानने के लिये हमारी किताब सम्यग्दर्शन की विधि पढ़ना आवश्यक है।

जब कोई व्यक्ति मर जाता है, तब उसके मृतदेह की आँखें छह घण्टे तक ठीक रहती हैं, फिर भी वह मृतदेह देख नहीं सकती। वही आँखें किसी अन्धे व्यक्ति को लगा दी जाये तो वह देख सकता है। अर्थात् आँखें ठीक हैं, पर मृतदेह उनसे देख नहीं सकती। हमें लगता है कि हम आँखों से देखते हैं, पर आँख तो खिड़की समान है। जैसे हम खिड़की से बाहर देखते हैं तो जानते हैं कि हम देख रहे हैं, खिड़की नहीं। उसी प्रकार आँख से बाहर के दृश्य को देखनेवाले का नाम आत्मा है। अतः समझना चाहिये कि आँख के माध्यम से हम देखते हैं; आँख भी आत्मा के लिये खिड़कीरूप है। इसलिये हम वह देखने और जाननेवाली आत्मा हैं। जब हम निश्चय करेंगे कि यह जानने-देखनेवाला मैं हूँ, तब मैं आत्मा हूँ यह बात समझ में आयेगी। इसलिये यदि अभी ही ऐसा निर्णय हो जाये कि मृतदेह में जो नहीं है वही मैं हूँ और यह जो मृतदेह है वह शरीररूपी है, मैं नहीं हूँ तो साधना, सरल हो सकती है।

हमें कितनी पक्की जानकारी है कि मृतदेह में कुछ भी नहीं है। क्या हम जीवित व्यक्ति को ज़रा-सी भी आग लगायेंगे? एक माचिस की तीली जलाकर भी उसकी उंगली पर नहीं लगायेंगे, पर मृतदेह का पूर्ण अग्निदाह कर देते हैं। क्या हम इतने क्रूर हैं? नहीं। हमारी समझ पक्की है कि इस देह में अब कुछ नहीं है, इसलिये उसका अग्निदाह कर देते हैं। यदि यही समझ अभी आ जाये कि इस शरीर में मेरा कुछ भी नहीं है, मैं शरीर नहीं हूँ, तो उसके प्रति मोह कम हो जायेगा और उसके माध्यम से बने सम्बन्धों के प्रति भी मोह कम होगा, जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करने में सहायक है।

हम अपनी गाड़ी (car) के साथ क्या करते हैं? क्या हम कहते हैं मैं गाड़ी या फिर मेरी गाड़ी कहते हैं? हम कहते हैं मेरी गाड़ी, मैं गाड़ी कभी नहीं कहते। इसी प्रकार यह शरीर भी गाड़ी जैसा है और हम (आत्मा) उसके चालक हैं। पर हम शरीर को ही 'मैं...मैं...' कहते रहते हैं। व्यवहार भाषा में शरीर को मैं कहना पड़ता है, पर मान्यता में शरीर को मैं नहीं मानना है। भाषा में कहते हैं मेरा घर, मेरा नाम, पर मानते क्या हैं? यह महत्वपूर्ण है। जब तक मान्यता में शरीर को मैं मानेंगे, तब तक भटकते रहेंगे। शरीर और आत्मा का भेदज्ञान आत्मा के देखने–जानने के प्रकट स्वभाव से करना है और स्वयं को आत्मा मानना है, शरीर नहीं।

इसलिये इस शरीर को भी मृतदेह के समान पौद्‌गलिक मानना चाहिये। तभी हम आत्मारूपी सेठ बनेंगे, अन्यथा यह शरीर ही सेठ बना बैठा है और अनादि से हम शरीर के नौकर बनकर जीवन पुरे करते आये हैं। शरीर सेठ और आत्मा नौकर – यह स्थिति अनादि से बनी हुई है। सेठ होते हुए भी हम नौकर बनकर जीते रहे हैं। अब सेठ बनना है या नहीं? यदि बनना है तो मैं आत्मा हूँ यह अपने देखने–जानने के गुण के आधार पर निश्चय करना होगा और 'मैं आत्मा हूँ' का जाप देना होगा।

अब तक हम इस शरीर के नाम को ही मैं मानते आये हैं। अब क्या मानना है? मैं आत्मा हूँ मानना है। जो नाम अवचेतन (subconscious) मन में बैठ गया है उसे बदलना है और मैं आत्मा हूँ यह स्थापित करना है। अवचेतन मन में नाम में जो मैंपन बैठा है उसे मिटाकर आत्मा में मैंपन स्थापित करना है। तभी विचारों के केन्द्र में आत्मा रहेगी। अभी तक तो नामधारी शरीर ही विचारों का केन्द्र है।

इसके लिये सभी को 'मैं आत्मा हूँ' का जाप करना चाहिये। जब भी समय मिले– चलते, फिरते, काम करते– 'मैं आत्मा हूँ' का जाप करना चाहिये। क्योंकि अभी हमारे विचारों का केन्द्र नामधारी शरीर है; उसे बदलकर विचारों के केन्द्र में आत्मा को स्थापित करना है। यदि आत्मा हमारे विचारों का केन्द्र बनेगा तभी हम वैराग्यादि योग्यतासहित अपना अभिप्राय आत्मसन्मुख बना सकेंगे। अनादि से हमारा अभिप्राय विचारों से बना है और वे विचार शरीरकेन्द्रित ही रहे हैं। अब आत्मा को विचारों का केन्द्र बनाकर वैराग्यादि योग्यतासहित अपना अभिप्राय आत्मसन्मुख बनाना है, जो आत्मप्राप्ति के लिये अनुकूल है।

शरीर के रूप में अपनी कहानी हम बहुतांश जानते हैं, पर आत्मा के रूप में अपनी कहानी समझने योग्य है, क्योंकि वह हमें ज्ञात नहीं हैं। उसके लिये भगवान के उपदेश पर विश्वास दृढ़ करना होगा। यदि भगवान पर हमारी श्रद्धा दृढ़ होगी तभी अपनी वास्तविक कथा पर विश्वास आयेगा। अनादि से हम निगोद में एकेन्द्रिय जीव रूप में थे, अनन्त दुःख भोगते थे। निगोद अनन्त जीवों की खान के समान है। उसमें एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। उनका जन्म–मरण साथ–साथ होता है। एक श्वास–प्रश्वास में उनके सत्रह–अठारह जन्म–मरण हो जाते हैं। भगवान ने कहा है कि जन्म–मरण का दुःख अनन्त है। इसलिये निगोद में जीव को अनन्तकाल तक अनन्त दुःख सहना पड़ता है। जीव निगोद में अनन्तकाल तक रह सकता है। कोई एक जीव निगोद में ढाई पुद्गल परावर्तनकाल तक रह सकता है और वहाँ से निकलकर एकेन्द्रिय में जाकर फिर लौटे तो पुनः ढाई पुद्गल परावर्तनकाल तक रह सकता है। ऐसा असंख्य बार हो सकता है। अतएव कोई एक जीव असंख्य पुद्गल परावर्तनकाल तक एकेन्द्रिय जीवराशि में रह सकता है। पुद्गल

परावर्तनकाल इतना विशाल है कि उसके अनन्तवें भाग में भी अनन्तकालचक्र होते हैं। इसलिये भगवान ने कहा है कि एकेन्द्रिय से निकलकर द्वीन्द्रिय में जाना भी चिन्तामणिरत्न की प्राप्ति से अधिक दुर्लभ है।

अनन्तकाल के बाद हमने निगोद से निकलकर द्वीन्द्रिय आदि गतियों में भ्रमण करते हुए अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य जन्म पाया हैं। यदि इस भव में सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त न हुआ तो भविष्य में पुनः अनन्तकाल तक निगोद में एकेन्द्रिय जीव के रूप में अनन्त दुःख भोगने पड़ सकते हैं। जो जीव ऐसे अनन्त दुःखों से बचना चाहते हैं उन्हें अपना यह भव पूर्णतः सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में लगाना चाहिये– ऐसा हमारा मानना है। क्योंकि जीव दो हज़ार सागरूपम से अधिक द्वीन्द्रिय आदि त्रसपर्याय में नहीं रहता। इसलिये यदि इस भव में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके शीघ्र कुछ भवों में मुक्त न हुए तो निगोद निश्चित है– ऐसा कहा जा सकता है।

अनन्त दुःखों से मुक्ति के लिये यहाँ बतायी गयी जो पद्धति है वह प्रयोगात्मक पद्धति है। पहले दिन से ही अर्थात् अभी से ही प्रयोग करना शुरू करना है। हम जितना जानते हैं उतना अपने जीवन में प्रयोग में लायें और वही प्रयोग हमें हमारे जीवन में सकारात्मक परिणाम देगा। वास्तव में अनन्तसुख अर्थात् मोक्षमार्ग की पूरी साधना प्रयोगात्मक ही है। शास्त्र तो दर्पण है। दर्पण के सामने जब हम देखते हैं तो हम क्या करते हैं? बाल ठीक करते हैं, चेहरे पर कोई दाग़ दिखाई देता है तो उसे हटा देते हैं, अपना स्वरूप दर्पण के सामने खड़े होकर ठीक कर लेते हैं, है न? वैसे ही हमें शास्त्र से आत्मा का कल्याण करना है।

शास्त्र आत्मा के लिये दर्पण है। शास्त्र पढ़ते समय उसे दर्पण की तरह पढ़ना है कि इसमें तो ऐसा लिखा है और मुझमें तो ऐसा नहीं है, जो कि उचित नहीं है। उसे ठीक करते रहना ही साधना है, शास्त्र का सही उपयोग है। यदि हम शास्त्र का दर्पण की तरह उपयोग करेंगे तो हमारा कार्य शीघ्र होगा। जो शास्त्र में लिखा है वह मुझमें है या नहीं, यह जाँचना है और यदि न हो तो उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना है। और जो नहीं करना है वह यदि हम करते हों तो उसे बन्द कर देना है, उसे जीवन से दूर करने का पुरुषार्थ करना है। इस प्रकार हमारा अभिप्राय सम्यक् बनता जायेगा। अनन्तसुखी होने के लिये अभिप्राय को सम्यक् बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

जीवन से सभी कमियाँ दूर हों या न हों यह दूसरी बात है, सभी कमियाँ तुरन्त न भी निकलें, परन्तु अभिप्राय से तो तुरन्त निकल जाती हैं। इस प्रकार अभिप्राय से सभी कमियाँ तुरन्त निकल जायें यह महत्वपूर्ण है। यह पूर्णतः प्रयोगात्मक मार्ग है और मानसिक होने के कारण यह साधना हम २४ घण्टे कर सकते हैं, क्योंकि हमारा कर्मबन्ध भी २४ घण्टे चलता रहता है तो उसके सामने संरक्षण भी २४ घण्टे का ही होना चाहिये। इसलिये अब जो धर्म करेंगे वह चौबीस घण्टे और सप्ताह के सातों दिन (२४ x ७) चलनेवाला ही करेंगे। प्रत्येक समय, जहाँ भी हों और किसी भी परिस्थिति में हों, यह मनन–चिन्तन निरन्तर चलता रहना चाहिये, क्योंकि यह चिन्तनयुक्त धर्म है और अनादि से अब तक के चिन्तन–मनन से ही हमारा अभिप्राय बना है, जो अब सम्यक् चिन्तन–मनन से सम्यक् बनाना है। अभिप्राय को आत्मप्राप्ति के अनुकूल बनाना है।

धर्म की परिभाषा बहुत ही सरल है–

१. **Dharma is all about being happy अर्थात् धर्म अनन्तसुख का मार्ग है।**

२. **Dharma is all about getting transformed अर्थात् धर्म स्वयं को बदलने का मार्ग है।**

अन्दर से बदलना है अर्थात् अपना अभिप्राय बदलना है। हमें अपने दुश्मन से अपना दोस्त बनना हैं। यदि न बदले तो निगोद में जाना निश्चित है। जैसे हमने अनेक बार ज्ञान तो ९ पूर्व का भी कर लिया, फिर भी कुछ नहीं हुआ यानी सम्यग्दर्शन तो मिला ही नहीं! क्योंकि हमने अपना अभिप्राय तो बदला ही नहीं! इसी प्रकार हमने अनेकों बार संयम ग्रहण किया, फिर भी कुछ नहीं हुआ! ९वें ग्रैवेयक स्वर्ग तक भी चले गये परन्तु फिर लौटकर जहाँ से चले थे वहीं पहुँच गये! काम तो दर्शनमोहनीयकर्म पर करना था, और विडम्बना देखिये कि हमने दर्शनमोह पर तो काम किया ही नहीं! जैसा था वैसा ही रहने दिया!

इस दर्शनमोह ने ही हमें ठगा है। इसकी वजह से हम स्वयं को अनादिकाल से ठगते आ रहे हैं। और जब तक हम उसकी गिरफ़्त में रहेंगे वह हमें ठगता रहेगा और हमें पता भी नहीं चलेगा कि हम ठगे जा रहे हैं!

जैसे कहा गया कि 'मैं आत्मा हूँ' का जाप करना है। तो कोई पूछता है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' ऐसा जाप कर सकते हैं क्या? तो ऐसा हैं कि आप शुद्धात्मा हैं यह बात निश्चयनय से तो तय है। निश्चयनय से तो आप त्रिकाल शुद्धात्मा हैं, परन्तु अज्ञानी जब बोलता है कि 'मैं शुद्धात्मा हूँ' तो चूँकि अज्ञानी नियम से पर्याय का वेदन करता है, इसलिये वह पर्याय में ही स्वयं को शुद्धात्मा मानने लगता है। पर जब कोई कष्ट

आता है तब उसे लगता है अब क्या करूँ? क्योंकि मैं तो शुद्धात्मा ही हूँ। बस मान लिया तो हो जायेगा क्या? – ऐसा अनादि से अनेक बार मान लिया, पर मान लेने से कुछ नहीं होता। जैसे हमारा बच्चा पहली कक्षा में पढ़ता है और कहे कि 'पापा मैं डॉक्टर हूँ' तो क्या आप मान लेते हैं? हम क्या कहते हैं? 'बेटा, तू डॉक्टर बन सकता है, अभी नहीं है। पढ़ेगा तो बन सकता है।'

वैसे ही भगवान भी हमें कहते हैं कि तू शुद्धनय से त्रिकालशुद्ध भगवान आत्मा है; यदि तू प्रयास करेगा तो बन सकेगा, अर्थात् अनुभव में आ जायेगा और फिर कालक्रम से पर्याय में भी प्रकट हो जायेगा। द्रव्यदृष्टि से सभी जीव त्रिकालशुद्ध ही हैं, पर जब कोई जीव अनुभव करता है तभी उसके लिये वह प्रकटशुद्ध माना जाता है। तब तक वह निश्चयनय से शुद्ध है पर अनुभव से शुद्ध नहीं है, वह प्रकटशुध्द नहीं है। हमारा लक्ष्य आत्मानुभव करना है, अर्थात् शुद्धात्मा का अनुभव करना है; उसी का नाम सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के लक्ष्य को मन में रखकर इस यूनिवर्सल लॉ अर्थात् सनातन नियमावली का दैनिक रूप से पालन करना है, अमल में लाना है। यही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का प्रयोगात्मक मार्ग है।

यूनिवर्सल लॉ अर्थात् सनातन नियम अर्थात् सब पर समान रूप से लागू होनेवाली ब्रह्माण्ड की संचालन व्यवस्था–

- **मैंने जो दिया है वही मुझे मिलता है। मैं दूसरों के लिये जो चाहूँगा वैसा ही मेरे साथ होगा।**

एक बात तो सभी जानते हैं कि हमने जो दिया है वही हमें मिलता है। अर्थात् भूतकाल में हमने जो दिया था उसके कारण जो पाप–पुण्य बँधे थे, उन कर्मों के उदय के अनुसार वर्तमान जीवन में सुख–दुःख

मिलते हैं, अच्छे–बुरे संयोग मिलते हैं। यह अटल नियम है। वे कर्म जब तक सत्ता में रहते हैं तब तक वे हमारे नये भावों के अनुसार बदल भी सकते हैं। इसलिये अपने सत्यधर्म के अनुरूप भावों से वे अनुकूल फल भी दे सकते हैं। सत्यधर्म अर्थात् आत्मप्राप्ति करानेवाला धर्म, क्योंकि आत्मप्राप्ति ही सत्यधर्म का प्रवेशद्वार है।

हम यह ध्यान नहीं रखते कि हम दूसरों के लिये जो सोचेंगे वैसा ही हमारे साथ होगा। इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है। हम दूसरों के लिये जो सोचेंगे उसके अनुसार हमारे कर्म बँधेंगे और उनके उदय से हमें वैसी ही परिस्थितियाँ मिलेंगी। इसलिये यहाँ कहा गया है कि जो हम दूसरों के लिये सोचेंगे वैसा ही हमारे साथ होगा। दूसरे का तो उसके कर्म से होगा, पर हम जो दूसरों के लिये सोचेंगे वैसा हमारे साथ होगा– यह समझ लें तो हम सदा के लिये दूसरों का बुरा/ग़लत सोचना बन्द कर देंगे। तो दूसरों के लिये क्या सोचना है? सबसे अच्छी बात ही सोचनी है, क्योंकि जो हम दूसरों के लिये सोचेंगे वैसा ही हमारे साथ होगा। सबका आत्मकल्याण हो– इससे श्रेष्ठ संसार में कुछ भी नहीं है। आत्मकल्याण से ऊपर कुछ भी नहीं है। तो सबके लिये यही सोचना है कि सबका आत्मकल्याण हो और हमें भी अपने आत्मकल्याण में लग जाना चाहिये।

जैसे ही हम दूसरों के लिये अच्छा सोचना शुरू करेंगे, तुरन्त उसका लाभ हमें मिलना शुरू हो जायेगा। एक तो हमारे नये कर्म अच्छे बँधेंगे और दूसरे हमारे पुराने कर्म भी परिवर्तित होकर अच्छे बनना शुरू हो जायेंगे।

इसके विपरीत जैसे ही हम दूसरों के लिये बुरा सोचना शुरू करेंगे, तुरन्त उससे हमें हानि होना शुरू हो जायेगी। एक तो हमारे नये बुरे

कर्मों का निर्माण शुरू हो जायेगा और हमारे पुराने कर्म भी परिवर्तित होकर बुरे बनना शुरू हो जायेंगे।

- **'मैं आत्मा हूँ।' यह शरीर मुझे मिली हुई भूमिका (role) है। सामान्यतः हमें जिस चीज़ के प्रति अत्यधिक आकर्षण होता है वैसी ही भूमिका हमें मिलती है।**

हमने पहले ही निश्चय किया कि मैं आत्मा हूँ यह शरीर मुझे मिली हुई भूमिका (role) है। अनादि से आत्मा का कर्मों के साथ एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध है। कर्मों के उदय के निमित्त से आत्मा जो भी मन–वचन–काया के कार्यों के निमित्त भाव करती है, उन भावों के निमित्त से कर्म आत्मा के साथ एक क्षेत्र में बँधते हैं और उनके उदय के निमित्त से जीव पुनः नये भाव करता है और फिर नये कर्मों के साथ आत्मा एक क्षेत्र में बँधती है। इस प्रकार बँधे हुए कर्मों के अनुसार जीव को नये भव मिलते हैं, जो उस भव के लिये उसकी भूमिका (role) है। सामान्यतः जीव को जिन संयोगों के प्रति राग या द्वेष होता है उन्हीं के अनुसार कर्म बँधते हैं और उन्हीं के अनुसार नये भव मिलते हैं। प्रायः हमारे आसपास हमारे पूर्व भवों के मित्र या शत्रु ही आते हैं, क्योंकि उन्हीं के साथ हमारा पुराना हिसाब अधूरा होता है। इसलिये हमें जो भी भूमिका मिली हो उसे बहुत अच्छे से निभाना है और भूमिका निभाते समय यह स्मरण रखना है कि 'मैं आत्मा हूँ।'

हमें नाटक में कोई भी पात्र (role) मिले तो उसे निभाते समय क्या हम भूल जाते हैं कि हम कौन हैं? कभी नहीं भूलते। तो यह भव भी एक नाटक ही है और उसमें हमारी निश्चित भूमिका है, पर हम भूमिका को ही आत्मा मान लेते हैं। यही तो कठिनाई है। अनादि से हमने यही किया है– भूमिका (role) को ही आत्मा (soul) मान लिया।

भूमिका (role) में ही ‘मैं‘पन कर लिया। इसलिये, हमें भूमिका (role) को भूमिका (role) ही समझना है।

तो यह भूमिका (role) मिलती कैसे है? तो आप ‘आकर्षण का नियम‘ (law of attraction) तो जानते ही होंगे। आजकल सब उसकी प्रैक्टिस करते हैं। इसके ‘मेनिफ़ेस्टेशन‘ (manifestation), ‘सीक्रेट‘ (secret) ऐसे कुछ नाम हैं। परन्तु जैन शास्त्र में इसे ‘निदान शल्य‘ कहा गया है। शल्य अर्थात् काँटा। अनादि से हमने इस प्रकार माँगा है कि ऐसा हो जाये, ऐसा मिल जाये, और अभी भी अनेक लोग आकर्षण का नियम अपनाते हैं, तो क्या होता है वह आगे समझते हैं। जैसे हम सिनेमा देख रहे हैं उसमें कोई सुन्दर बंगला देखकर इच्छा हुई कि काश मुझे भी ऐसा बंगला मिले तो अच्छा हो! तो उसमें ऐसा होता है कि पुण्य हो तो उस बंगले के मालिक बनेंगे, यदि पुण्य कम हो तो उस बंगले में नौकर बनकर जायेंगे, यदि और भी कम पुण्य हो तो उस बंगले में पालतू प्राणी (गाय, घोड़ा, कुत्ता) बनकर जायेंगे, यदि और भी कम पुण्य हो तो उस बंगले में मच्छर, खटमल, चींटी, कीट आदि बनकर जायेंगे, यदि और भी कम पुण्य हो तो उसी बंगले में पानी, वनस्पति, वायु आदि रूप में जीव बनकर जन्म होगा। इसी प्रकार अनादि से हम अपना भविष्य इस तरह निश्चित करते आये हैं। अपनी भूमिका (role) हम स्वयं ही तय करते हैं और इसमें बहुत बड़ा नुक़सान है।

यदि आपकी जमापूँजी (FD) है तो न माँगें तब भी वह आपके खाते में ही जमा होनेवाली है, परन्तु माँगने से बहुत बड़ी पेनल्टी अर्थात् दण्ड लगता है। दूसरा, माँगकर मिलने से उसमें आसक्ति भी बहुत अधिक होती है। इस प्रकार जितना अधिक लगाव, उतने अधिक पाप बँधते हैं और मोह की तीव्रता भी बढ़ती है। हमें तो दर्शनमोह (दुःखी संसार

में रखनेवाला कर्म) को हराना है, लेकिन हम तो उसे और भी तीव्र कर रहे हैं, और प्रगाढ़ कर रहे हैं। अनादि से हम ऐसा ही करते आ रहे हैं। अब निश्चय करें कि कुछ भी नहीं माँगना है, क्योंकि माँगने में नुक़सान है। जो हमें अपने आप मिलनेवाला था उसे घटाकर माँग लेने में कौन–सी समझदारी है? तनिक भी समझदारी नहीं, सिर्फ़ मूर्खता है।

समझ के बिना हम अनादि से कैसी–कैसी दुःखमय स्थितियों का आरक्षण कर लेते हैं। जैसे हम किसी पर्यटनस्थल पर गये, वहाँ प्राकृतिक सौंदर्य देखकर विचार किया– वाह! कितना सुन्दर पहाड़ है! कितनी सुन्दर नदी है! क्या झरना है! कितने सुन्दर वनस्पति/हरियाली/वृक्ष हैं! आदि। इस प्रकार हम जाने–अनजाने में वहाँ जन्म लेने का आरक्षण (booking) करके आ जाते हैं। हम अनादि से इसी प्रकार जन्म का आरक्षण करते रहे हैं। वास्तव में ऐसा विचार करना चाहिये कि ये सब एकेन्द्रिय जीव हैं, वे जीव असह्य दुःख भोग रहे हैं। जब आपको वहाँ सुन्दरता दिखाई देती है, तो आपको भी वहाँ वैसा जीव बनना पड़ेगा। वैसे ही दुःख भोगने पड़ेंगे समझ में आता है? तो कितना सजग रहना चाहिये? इसलिये 'आकर्षण का नियम' (law of attraction) आदि का अनुसरण नहीं करना है। कुछ भी माँगना ही नहीं है। जो मिलनेवाला है वह अपने आप पूरा ही मिलेगा। अपनी जमापूँजी (FD) किसी दूसरे के खाते में जानेवाला ही नहीं है तो मुझे माँगने की क्या आवश्यकता है?

- **मेरे साथ जो कुछ भी होता है वह मेरे भूतकाल का दर्पण मात्र है। वह मेरे पूर्वकृत कर्मों का ही फल है। मैंने जो कार्य मन–वचन–काया से न किया हो, न कराया हो, न अनुमोदन किया हो, ऐसा कार्य मेरे साथ कभी नहीं होगा।**

भगवान की हमें कितनी बड़ी गारण्टी अर्थात् आश्वासन है कि हमें

दूसरों के कर्म नहीं भोगने पड़ते। हमें सिर्फ़ अपने ही कर्म भोगने पड़ते हैं। इस नियम पर विश्वास करने से पहले हमें भगवान पर विश्वास करना होगा। वह विश्वास अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि जिसे भगवान पर विश्वास होता है वही गारण्टी पर विश्वास करता है। जिसे इस नियम पर विश्वास नहीं है उसे यह गारण्टी भी नहीं लगती। भगवान ने तो गारण्टी दी है, पर जिसे भगवान पर ही विश्वास न हो उसे श्रद्धा बैठती ही नहीं। उसे तो लगता है– ऐसा क्यों होता है? मैंने तो कुछ भी नहीं किया, फिर मेरे साथ ही ऐसा क्यों हो रहा है? लोग मेरे साथ ही ऐसा क्यों करते हैं? आदि। पर भगवान ने कहा है कि आपने जो न किया हो, न कराया हो, न अनुमोदन किया हो, ऐसा कार्य आपके साथ तीनों काल में कभी नहीं होता। तो अब हमारे साथ जो कुछ भी हो रहा है उसमें दोष किसका? सिर्फ़ अपना ही, किसी और का तनिक भी दोष नहीं।

हम संसार में अनादि से अकेले ही भटकते हैं और हमारे साथ सिर्फ़ हमारे कर्म ही होते हैं। मैं और कर्म। कर्म क्या है? वह हमारे ही भूतकाल के भाव हैं। हमारे भूतकाल के भावों का प्रतिबिम्ब है। इसलिये अनादि से हमारे आसपास जितने लोग हैं वे सब हमें कर्म खपाने में सहायक हैं। ऐसी दृष्टि नहीं है इसलिये समझ में नहीं आता। जो हमें सुख देते हैं वे सहायक लगते हैं, पर जो दुःख देते हैं वे सहायक नहीं लगते। दोनों ही कर्म खपाने में सहायता करते हैं। एक पुण्य खपाने में सहायता करता है तो दूसरा पाप खपाने में। यदि सबको सहायक (helpers) के रूप में देखना प्रारम्भ करेंगे तो जीवन सरल हो जायेगा।

- **इसलिये एक बात तो निश्चित है कि मेरे साथ भूतकाल में, वर्तमान में या भविष्य में कभी अन्याय नहीं हुआ है, न हो**

रहा है और न होगा। ऐसी समझ होने से मैं बिना किसी शिकायत (No Complaint Zone में) जीवन जी सकूँगा। मेरे साथ जो भी होता है वह मेरे अपने भूतकाल के भावों (कर्मों) के कारण ही होता है। इसलिये 'मेरे साथ ही क्यों?' यह प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता।

किसे ऐसा लगता है कि मेरे साथ अन्याय हो रहा है? लगभग हर किसी के जीवन में ऐसा होता है कि मैंने तो कभी किसी के साथ ऐसा नहीं किया, फिर मेरे साथ ऐसा क्यों हो रहा है? या लगता है कि सबका अच्छा है, पर मेरा ही क्यों बुरा है? यदि ऐसा न लगता हो तो बहुत बड़ी बात है, बहुत अच्छी बात है। और हम भी यही चाहते हैं कि आपको अन्याय न लगे, पर यदि अन्याय लगता है तो समझना चाहिये कि वह अन्याय नहीं बल्कि न्याय है। भगवान ने कहा है कि कभी किसी के साथ अन्याय नहीं होता– यह मानना ही पड़ेगा। क्योंकि भूतकाल का पूरा चित्र हमें दिखाई नहीं देता इसलिये अन्याय लगता है। जब क्षितिज़ (फ़लक) बड़ा करेंगे तब पता चलेगा कि यह तो मैंने भूतकाल में किया था इसलिये हो रहा है। हम क्षितिज़ (फ़लक) बड़ा नहीं कर पाते इसलिये अन्याय लगता है।

तीनों काल में मेरे साथ कभी अन्याय नहीं होगा– यह बात समझ लें तो शिकायत नहीं रहेगी और शिकायतरहित जीवन जी सकेंगे। तब जीवन में कितनी शान्ति हो जायेगी? जीवन में कोई शिकायत ही नहीं रहेगी– कि मेरे साथ ऐसा क्यों होता है? क्योंकि सब न्याय ही है तो 'मेरे साथ ही क्यों?' यह भी नहीं रहेगा। यदि किसी को लगता है– 'मैं ही क्यों? मेरे साथ ही क्यों हो रहा है?' बाजूवाले के साथ तो सब अच्छा हो रहा है। यदि दूसरे का भूतकाल देखें तो पता चलेगा

कि उसने अच्छा किया था और मैंने ग़लत किया था, इसलिये मेरे साथ ऐसा हुआ। तो 'अन्याय हो रहा है' यह बात मन से निकाल दें। हाँ, अब मैं किसी के साथ अन्याय नहीं करूँगा!– यह बात निश्चित करें। 'मैं किसी के साथ कभी अन्याय नहीं करूँगा,' क्योंकि अन्याय करूँगा तो निश्चित ही वैसा ही मुझे मिलेगा।

इसका अर्थ यह नहीं कि अन्याय नहीं होता तो हमें दूसरों के साथ अन्याय करने की अनुमति मिल गयी है। ऐसा नहीं समझना। यदि आपको लगे कि मैंने तो किसी का बुरा करके भी अन्याय नहीं बल्कि न्याय ही किया है तो यह बात सिर्फ़ अपने ऊपर लागू करनी है, दूसरों पर नहीं। इस बात को उल्टा नहीं लेना है। यदि आपने किसी के साथ अन्याय किया तो आपने निश्चित कर दिया कि आपके साथ भी वैसा ही होगा। यह सिर्फ़ अपने लिये उपयोग करना है। हमें यही सोचना है कि मेरे साथ अन्याय नहीं होगा। दूसरों के लिये बुरा सोचने की आवश्यकता नहीं। 'उसने ऐसा किया, इसलिये उसके साथ ऐसा होना चाहिये, उसे वैसा ही परिणाम मिलना चाहिये' – यदि हम ऐसा सोचें तो काम बिगड़ जायेगा। उसके साथ अभी जो हो रहा है वह हो रहा है, पर आपके साथ भी भविष्य में वैसा होना निश्चित हो गया।

इसलिये सोचते समय, बोलते समय भगवान का जो उपदेश है उसे ध्यान में रखना है। तभी हमारा सोचना, बोलना आदि समझसहित मोक्षमार्ग के अनुकूल होगा। अन्यथा कुछ भी अनर्गल बोलते रहेंगे। अनादि से हमारे भीतर जो प्रोग्राम बना हुआ है अर्थात् हमारे संस्कार जैसे हैं वैसे ही हम करते हैं। यही प्रोग्राम बदलना है। इन सनातन नियमों (universal law) के अनुरूप अपनी प्रोग्रामिंग को बदलना है। हमें अपने संस्कार बदलने हैं। क्योंकि हमारी प्रतिक्रिया तत्काल होती है, तुरन्त होती है उसमें सोचने

का समय नहीं होता तो यह प्रतिक्रिया कहाँ से आती है? वह हमारे अवचेतन मन से आती है। उसमें जो प्रोग्रामिंग हुई है वहीं से आती है। तो यह यूनिवर्सल लॉ प्रोग्रामिंग बदलने के लिये है, अर्थात् संस्कार बदलने की विधि है, जिसे रोज़ २४ x ७ करना है। उसी से हमारा अभिप्राय बदलेगा, जो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

अनेक लोगों को ऐसा लगता है कि मेरे साथ जो ग़लत होता है, वह नया भी हो सकता है। तो अभी मेरे साथ जो हो रहा है वह नया भी हो सकता है न? इसका उत्तर है कि जिसके साथ जो भी हो रहा है, वह उसके लिये पुराना है यानी उनके पुराने कर्मों का ही फल है। और जो कर रहा है उसके लिये वह नया है, वह नये कर्म बाँध रहा है। इसलिये ऐसा कहा जा सकता है कि यही नियम है कि जो दुःख भोगता है उसके लिये वह पुराने कर्मों का ही फल है और जो कष्ट देता है उसके लिये वह नये कर्मों के बन्ध का कारण बनता है। यही बात सुख देने में भी लागू होती है। उसमें सुख देनेवाले के लिये वह नये पुण्यबन्ध का कारण होता है और सुख भोगनेवाले के लिये वह उसके पुराने पुण्यकर्म का ही फल होता है।

- **मैं अपना अच्छा नसीब (Good Luck) पुण्य करके और बड़े पापों का (जुआँ, दारू, मांसाहार, वेश्यागमन, चोरी, शिकार, व्यभिचार, कन्दमूलभक्षण, रात्रिभोजन, अचार, मधु, अंजीर, मक्खन आदि) त्याग करके बना सकता हूँ। जैसे संसार में हम लाभ बढ़ाते हैं और नुक़सान घटाते हैं। वैसे ही अनादि से यह समीकरण लागू है कि पाप से दुःख मिलता है और पुण्य से सुख मिलता है।**

संसार में हम समझते हैं कि आय बढ़ानी है और ख़र्च घटाना है। संसार में हम सब ठीक करते हैं। तो यहाँ (पुण्य–पाप में) क्यों नहीं करते? हमारे द्वारा कम से कम जीवों को दुःख हो, कम से कम जीवों को नुक़सान हो– वही तो पुण्य है। पुण्य और क्या है? शुभभाव! वे शुभभाव भी किस लक्ष्य से हों? सिर्फ़ आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से; अन्यथा वे शुभभाव भी हमारी भवनैया पार नहीं करा सकते। पुण्य में इतनी शक्ति नहीं कि आपको मोक्ष दे पाये, पर इतनी शक्ति अवश्य है कि आपको मोक्षमार्ग में सुविधा दे पाये। पर मोक्ष का लक्ष्य होगा, आत्मप्राप्ति का लक्ष्य होगा, संसार से मुक्ति का लक्ष्य होगा तभी वह पुण्य कार्य करेगा। अन्यथा पुण्य क्या है? थोड़ा सुख मिला और अनन्तकाल का निगोद (दुःख)। बिना मुक्ति के लक्ष्य से किया गया पुण्य पापानुबन्धी पुण्य होता है। वह दीर्घकाल में पाप के समान ही है। इसलिये ऐसे पुण्य के पीछे नहीं भागना है।

विचार क्या होना चाहिये? मैं जीव हूँ, सामनेवाला भी जीव है। मुझे भी दुःख होता है, वैसे ही सामनेवाले को भी दुःख होता है। मेरे निमित्त से किसी को भी कम से कम दुःख पहुँचे, इस प्रकार मुझे अपना जीवन जीना है। तब सब अपने आप होगा। और जिसे दुःख पसन्द नहीं उसे पाप करना ही नहीं चाहिये, क्योंकि पाप करने से नियम से दुःख आता है। दुःख किसे पसन्द है? किसी को नहीं। तो फिर पाप नहीं करना चाहिये। यही तो नियम है। जिसे दुःख पसन्द नहीं उसे पाप नहीं करना चाहिये। हमें दुःख पसन्द नहीं है पर हम उसी को आमन्त्रित करते हैं, तो वह दुःख आयेगा ही।

कन्दमूल में अनन्त जीव होते हैं, इसलिये उसका त्याग करना है, क्योंकि अन्य हरी, फल आदि में गिनती के जीव होते हैं, इसलिये उन्हें

खाकर हम जी सकते हैं। जिस जीव का शरीर मांस का होता है, उसे मारने से उसमें उसके समान ही असंख्यात सम्मूर्छिम जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिये उसका त्याग करना है। एक–एक व्यसन जीव को अनन्तकाल तक संसार में भटका सकता है, इसलिये सप्त महाव्यसनों (जुआँ, दारू, वेश्यागमन, चोरी, शिकार, व्यभिचार, व्यसन) का त्याग करना है। रात्रि में वातावरण में अधिक जीवाणु होते हैं, इसलिये रात्रिभोजन त्याज्य है। अचार में तीन दिन बाद द्वीन्द्रिय जीव उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिये तीन दिन के बाद वह त्याज्य है। मध में मधुमक्खी के अण्डे आदि होते हैं, इसलिये वह त्याज्य है। अंजीर का फलन ही कीट से होता है, इसलिये उसमें अनेक ज़िन्दा या मरे हुए कीट हो सकते हैं, इसलिये वह त्याज्य है। छाछ से निकालने के बाद मक्खन में द्वीन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं, इसलिये यदि वह छाछ में न हो तो त्याज्य है। इन त्यागों का उद्देश्य कम से कम जीवों की हिंसा करके अपना जीवन चलाना है। दूसरा, यदि हम किसी भी जीव को दुःख देंगे तो भविष्य में हमें स्वयं दुःख भोगना पड़ेगा। उन दुःखों से बचने के लिये इन सबका त्याग करना है।

- **यह बात अवश्य याद रखो: मुझे दुःख से भी लाभ लेना सीखना है।**

आज तक तो हम दुःख से दूर भागते हैं। जबकि दुःख का तो स्वीकार करना है, यह कैसे सम्भव होगा? वही हमें सीखना है। जब कोई भी दुःख आता है तो वह हमारे पूर्व के पाप कर्म के उदय के कारण ही आता है। वह कर्म हमारे पूर्व के दुष्कृत्यों के कारण ही बँधा हुआ होता है। इसलिये जब कोई भी दुःख आये तब पापकर्म उदय में आकर क्षीण हो जाता है। अर्थात् पाप कर्म की निर्जरा होती है। और

यदि हम आर्तध्यान या रौद्रध्यान न करें और धर्मध्यान करें तो नये पाप कर्म नहीं बँधते। इसलिये कोई भी दुःख आये तो ऐसा समझना कि मेरे कर्म की निर्जरा हो रही है, इसलिये प्रसन्न रहना। शोक न करना, दुःखी न होना। इस प्रकार हमें दुःख से भी लाभ लेना सीख लेना है।

जैसे कि हमें सिर दर्द होता है तो ऐसा विचार करना कि सिर से ज़ोरदार पापकर्म निकल रहे हैं, मेरे पापों का नाश हो रहा है। इसलिये मेरा लाभ हो रहा है – ऐसा सोचते ही सिरदर्द कम कष्टदायक हो जाता है। धीरे–धीरे उससे हमारा ध्यान हट जाता है और हमें अच्छा लगने लगता है।

- **मैं यहाँ बिना किसी शर्त या अपेक्षा के देने के लिये ही आया हूँ। इस प्रकार देकर मैं या तो अपना पुराना ऋण (loan) चुका रहा हूँ या फिर अपनी नयी जमा पूँजी (fixed deposit) बना रहा हूँ। दोनों परिस्थितियों में लाभ मेरा ही है।**

अनादि से हम लेनेवाले ही हैं हमारा भाव है कि जहाँ से जितना लाभ मिले वह ले लेना है। हमने किसी को कुछ दिया हो तो तुलना करते हैं कि हमने तो इतना बड़ा या अधिक दिया था, उसने तो छोटा या कम दिया है, ऐसे भाव होते हैं। तो हमें यह जानना चाहिये कि संसार में कुछ भी मुफ़्त नहीं मिलता हर वस्तु की क़ीमत चुकानी पड़ती है। तो हम जब देना शुरू करते हैं या सिर्फ़ देने का भाव भी करते हैं, तो भी उसका फल अच्छा मिलता है।

मैं यहाँ बिना किसी शर्त या अपेक्षा के देने के लिये ही आया हूँ। देकर ही हम कर्मों से और ऋण से मुक्त हो सकते हैं। शर्त और अपेक्षा ही दुःख के कारण बनते हैं, वही दुःख लाते हैं। और हम यहाँ दुःख के कारण को ही दूर कर देते हैं। दुःख के कारणों को ही जीवन से

निकाल देना है।

बस सिर्फ़ देना ही है। देने से क्या होगा? देने से या तो हमारा पुराना ऋण (loan) चुक जायेगा या तो नयी जमापूँजी (FD) बनेगी। तो दोनों परिस्थितियों में लाभ किसका है? हमारा अपना ही है न? हाँ, हमारा ही निजी लाभ है। तो अब समझ लेंगे तो देनेवाले बन जायेंगे। तत्पश्चात जगत के जीवों से हमें कोई शिकायत नहीं रहेगी। इसलिये अपने भाव देने के बनाये रखना। हम कुछ भी दे सकते हैं मन से, वचन से और काया से। ऐसा नहीं है कि देना अर्थात् पैसे ही देना। कुछ भी दे सकते हैं। देने का भाव भी कर सकते हैं।

बस लेने का भाव मत करो, उसी में अनादि से हम फँसे हुए हैं, लेने का भाव किये बिना ही आगे बढ़ना है। सेवा भी नहीं लेनी चाहिये, कम से कम सेवा लेनी पड़े मजबूरी हो, तो ही लेनी। हम बैठे–बैठे सब कुछ मँगवाते रहते हैं तो क्या होता है हमारा? हमें भी सेवा देनी पड़ेगी यह निश्चित ही है। इसलिये जो मुझे पसन्द है वही मुझे दूसरों के साथ करना चाहिये। तो हमारा व्यवहार दूसरों के साथ कैसा होना चाहिये? जो व्यवहार हमें अपने साथ हो तो अच्छा लगे वैसा ही व्यवहार हमें दूसरों के साथ करना चाहिये।

इसमें यह होता है कि जो भी कार्य हमें अनिवार्य कर्तव्य के रूप में करना ही होता है जैसे घर के ख़र्च, बच्चों के ख़र्च आदि से हमारा ऋण (loan) चुक रहा है। परन्तु जो कार्य हमें अनिवार्य रूप से करना न हो फिर भी हम स्वेच्छा से करते हों वह हमारी जमापूँजी (FD) बनता है। तो कहीं भी कमी नहीं रखनी है। हमें कर्तव्य में भी कमी नहीं रखनी है। पैसा आदि मृत्यु के बाद साथ नहीं ले जा सकते परन्तु यह पुण्य (सत्कर्मों) की जमापूँजी (FD) मृत्यु के बाद भी अपने साथ ले जा सकते

हैं। सब कहते हैं कि पैसा साथ नहीं जाता परन्तु यह जमापूँजी (FD) साथ जाती है। यह हमें प्रत्यक्ष अनुभव है कि कोई बालक श्रीमन्त के यहाँ जन्म लेता है तो वह अपनी FD लेकर ही आया है, बस यही उसकी जमापूँजी (FD) है जो उसे नये भव में जन्मते ही मिलनी शुरू हो गयी है।

- **मुझे अपना कर्तव्य उत्तम प्रकार से निभाना है। दूसरे भी ऐसा करें ऐसे आग्रह के बिना। हम सबको अपने परिवार, मित्रों, सहकर्मियों, समाज और देश के प्रति अपना कर्तव्य पूरी शक्ति और उत्साह के अनुसार निभाना है।**

हमें अपना कर्तव्य उत्तम प्रकार से निभाना है, पूरा करना है, उसमें कोई कमी, न्यूनता नहीं रखनी है। यदि हम कर्तव्य पूरा करने में कमी या न्यूनता रखेंगे तो फिर अगले भवों में देना पड़ेगा, चुकाना पड़ेगा। देते समय कहीं भी कमी नहीं रखनी है, सवागुणा अर्थात् सवा रुपया ही देना है ताकि इस संसार के विषचक्र में (vicious cycle में) फिर आना न पड़े। दूसरे भी अपना उत्कृष्ट दें ऐसा आग्रह नहीं रखना। क्योंकि ऐसा आग्रह अपेक्षा होने से दुःख ला सकता है। हमें दुःख के हर स्रोत को हटाना है।

- **हमें अपने प्रति कठोर और दूसरों के प्रति उदार/दयालु बनना है।**

अनादि से हम उल्टा ही करते आ रहे हैं। हमें अपना दोष तो कभी दिखता ही नहीं, या बहुत बड़ा दोष भी छोटा लगता है। और सामनेवाले का छोटा दोष भी बहुत बड़ा दिखाई देता है। तो अब उल्टा करना है। सेल्फ़ डिसिप्लिन अर्थात् स्वयं को अनुशासन में रखना है। अपने प्रति कठोर अर्थात् अपनी छोटी भूल भी बड़ी लगनी चाहिये और दूसरे की बड़ी भूल भी छोटी लगनी चाहिये। क्योंकि दूसरे की भूल का फल वह भूल करनेवाला

भोगेगा जबकि अपनी भूल का फल हमें भोगना है।

कभी–कभी दूसरे की भूल के कारण हमारा नुक़सान होता हो तो उस नुक़सान से बचने के लिये हम अपने भाव बिगाड़े बिना उचित कदम उठा सकते हैं। परन्तु समझ यह रखनी है कि मेरा नुक़सान मेरे पाप के उदय के कारण हो रहा है, सामनेवाले की भूल तो उसमें निमित्तमात्र ही है अर्थात् सामनेवाला सिर्फ़ पोस्टमैन की भूमिका में ही है। यह समझ और अपने को अनुशासन में रखना मोक्षमार्ग में बहुत ही आवश्यक है। निश्चय से मुझे दूसरे से कोई लेना–देना नहीं है। हमें तो अपना ही विचार करना है, अपना ही देखना है। हमने जो निश्चय किया है उससे हमें हटना नहीं है, वही सेल्फ डिसिप्लिन है।

- **'मेरे साथ जो भी होता है वह अच्छे के लिये ही होता है' – ऐसा मानना। जिससे आर्तध्यान–रौद्रध्यान से बचा जा सके। नये कर्मबन्ध से बचा जा सके। यह सर्वोपरि सकारात्मकता का श्रेष्ठ मार्ग है।**

यह बहुत बड़ी चाबी है। यदि आप मानेंगे कि मेरे साथ जो कुछ भी हो रहा है वह अच्छे के लिये ही हो रहा है तो आधा दर्द तो उसी समय कम हो जायेगा। वैसे हम अधिक कुछ कर भी नहीं सकते। तो दुःखी होने से तो यह अच्छा है। हमसे जो अधिकतम निरवध उपाय होते हों वह करने की छूट (Do your best, leave the rest) होती है परन्तु दुःखी हुए बिना। इसलिये मेरे साथ जो कुछ भी हो रहा है वह मेरे अच्छे के लिये ही हो रहा है ऐसा सोचते ही मन सकारात्मक हो जाता है और अप्रिय संयोगों का स्वीकार भी सहज हो जाता है। मेरे साथ जो कुछ भी हो रहा है वह वास्तव में अच्छे के लिये ही हो रहा है, क्यों? क्योंकि मेरे पाप कर्म तो निकल रहे हैं न! चाहे बुरा हो रहा हो तो भी मेरे पाप कर्म तो क्षीण हो ही रहे हैं न? तो उसका भी

आनन्द लिया जा सकता है न? वह अच्छा ही है न? जैसे ऋण (loan) चुक रहा हो तो आप मानते ही हैं न कि अच्छा हुआ। तो यह ऋण (loan) ही भर गया, तो अच्छा ही हुआ न? ऐसा सोचने से कभी नकारात्मक भाव आयेगा ही नहीं और सबसे बड़ा लाभ कर्म भी नकारात्मक नहीं बँधेगा, दुःख भी नहीं लगेगा। आर्तध्यान भी नहीं होगा।

उदाहरण:– राजा की अंगुली कट गयी...

एक बार राजा की अंगुली कट गयी तो उनके मन्त्री ने कहा 'जो होता है वह अच्छे के लिये ही होता है।' तो राजा नाराज़ हुआ कि मेरी अंगुली कट गयी और तू कहता है 'जो होता है वह अच्छे के लिये ही होता है!' तुझे अच्छा लगता है! इसे जेल में डाल दो। इस प्रकार मन्त्री को जेल में डाल दिया। पर मन्त्री की मान्यता पक्की थी कि 'जो होता है वह अच्छे के लिये ही होता है।' कुछ दिन बीते, राजा शिकार पर गये तब उनका घोड़ा बहुत आगे निकल गया क्योंकि उसकी तालीम उलटी थी, सैनिक पीछे रह गये, राजा अकेले हो गये, घोड़ा भी थक गया घोड़ा खड़ा रह गया, राजा घोड़े से उतर गये और बैठे थे। आसपास से आदिवासियों का समूह आया और राजा को पकड़कर ले गया। आदिवासियों को यज्ञ करना था तो उसमें उन्हें बलि चढ़ानी थी, तो राजा को स्नान कराकर बलि के लिये तैयार करने लगे। तभी स्नान करानेवाले को पता चला कि राजा की एक अंगुली नहीं है तो उसने सबको बुलाया और कहा कि यह आदमी नहीं चलेगा, बलि के लिये तो शरीर अक्षत चाहिये जबकि यह तो क्षतिवाला है। अंगुली कटी हुई है। इसलिये सबने निर्णय लिया कि इसे छोड़ दो और किसी दूसरे को पकड़कर ले आओ। राजा को छोड़ दिया गया।

राजा छोड़े जाने के बाद वन में इधर–उधर भटक रहे थे तभी

उन्हें खोजते–खोजते उनके सैनिक आ गये और राजा को उनके राज्य में ले गये। राज्य में पहुँचकर राजा ने पहला काम यह किया कि मन्त्री को बुलवाया और कहा कि वह मन्त्री सही कहता था कि अंगुली कट गयी इसलिये मैं बच गया। फिर मन्त्री आया। राजा ने कहा तू बात तो सही करता था कि 'जो होता है वह अच्छे के लिये ही होता है।' मेरी अंगुली कट गयी तो मैं बच गया, यह बात सही है! तू सही कहता था, पर तेरे साथ तो अन्याय हुआ न? तुझे तो जेल में जाना पड़ा न? तब मन्त्री बोला साहब, यदि मैं जेल में न गया होता तो मैं आपके साथ ही गया होता। आप तो बच जाते पर मेरी तो बलि चढ़ जाती। तो साहब मेरे साथ भी 'जो हुआ वह अच्छे के लिये ही हुआ।'

यह समझ लेने से जो दुःख आता है वह भी नहीं लगता क्योंकि 'जो होता है वह अच्छे के लिये ही होता है' यह बात मन में बिठा लेने से आप भी आनन्द से जी सकेंगे।

लोगों के प्रति हमारा प्रतिभाव चार प्रकार का ही होने चाहिये।

१) मैत्रीभाव :– सभी जीवों के साथ कल्याणमैत्री का चिन्तन करना। इससे हमारा कोई शत्रु नहीं रहेगा। मित्रों का भला (हित) चाहने से अपना भला होगा। इस प्रकार हमारे वर्तमान और भविष्य दोनों सुधर जायेंगे।

मैत्री अर्थात् universal friendship, सभी जीवों के साथ कल्याणमैत्री। इसमें हमारा क्या लाभ होगा? हमें तो ऐसा लगेगा कि हम तो दूसरे पर उपकार कर रहे हैं। तो इसमें हम किसी पर उपकार नहीं कर रहे।

इसमें ऐसा है कि, हमारा कोई शत्रु हो वह मानो कि अमेरिका में सोया है, पर वह हमें याद आ गया तो हमारा मन तो दुःखी होगा, हमारा मूड ख़राब हो जायेगा। जब हम दुःखी होते हैं तब हमारा वर्तमान

बिगड़ता है और यदि हमने शत्रु के लिये कुछ भी बुरा सोचा कि उसका तो ऐसा हो जाना चाहिये, ख़राब हो जाना चाहिये, आदि। ऐसा सोचने से हमारा भविष्य बिगड़ता है क्योंकि हम जो दूसरे के लिये सोचते हैं वैसा ही हमारे साथ होता है। और अनादि से हम यही करते आ रहे हैं।

तो अब सभी जीवों के साथ मैत्री करनी है, जिससे जगत में हमारा कोई शत्रु ही न रहे। फिर कोई भी जीव याद आये तो हमें दुःख नहीं होगा, हमें तकलीफ़ ही नहीं होगी और हम उसके लिये अच्छा ही सोचेंगे। हम उसके लिये जो सोचेंगे वैसा ही हमारे साथ होगा। तो इस प्रकार हम अपना वर्तमान और भविष्य दोनों सुधार सकते हैं। परन्तु अनादि से हम उल्टा करके अपने वर्तमान और भविष्य बिगाड़ रहे थे। इस प्रकार मैत्री हमारे लिये लाभकारी है। तो अब सभी जीवों के साथ मैत्री रखनी, कल्याणमैत्री अर्थात् उनका अक्षत कल्याण चाहना। आत्मकल्याण ही अक्षत कल्याण है।

२) प्रमोदभाव :- दूसरों के गुणों की प्रशंसा करने से वे गुण अपने में खिलने लगेंगे। और दूसरों के अवगुण दिखें तो उसका उपयोग अपने अवगुण हटाने में करना।

भगवान के गुणों के प्रति तो हम प्रमोद करते ही हैं। पर हम क्या नहीं करते? हम अपने जैसे अन्य जीवों के गुण नहीं देखते बल्कि दोष ही देखते हैं। यदि हमें किसी की भी याद आये, चाहे कोई मित्र ही क्यों न हो? हम सबसे पहले उसके दोष ही याद करते हैं कि वह तो ऐसा ही है या वह ऐसी ही है। इस प्रकार हमें जो याद आता है वह इसी प्रकार याद आता है, उनके नेगेटिव अर्थात् नकारात्मक गुण

ही याद आते हैं।

तो इसे बदलना है। क्या बदलना है? हमें किसी की भी याद आये तो पहले उसके गुण ही याद आने चाहिये। उसका जो सबसे अच्छा गुण है वही याद आना चाहिये। इसके लिये क्या करना पड़ेगा? अब तक तो हम गुण देखते ही नहीं थे, हमारी दोषदृष्टि ही थी। तो अब उसे गुणदृष्टि में परिवर्तित करना है। उसके लिये अब याद रखना है कि सामनेवाले में कौनसा गुण है? तो उसके लिये पहले उसका गुण देखना पड़ेगा तभी तो वह याद आयेगा कि हाँ उस व्यक्ति में यह गुण है।

हम जिन गुणों की अनुमोदना करते हैं वे गुण हममें खिलने लगते हैं। यही नियम है। इसलिये यदि हम दूसरों के गुण देखेंगे तो वे गुण हममें भी खिलेंगे और दोष देखेंगे तो वे दोष हममें खिलने लगेंगे। जो भूल हम अनादि से करते आये हैं वह अब नहीं करनी है कभी नहीं करनी है! अब सिर्फ़ गुणदृष्टि ही रखनी है।

दूसरों के गुणों के साथ उनके दोष भी दिखेंगे। हमें दोषदृष्टि नहीं रखनी है, पर जो दोष दिखें उनका भी अपने लिये सकारात्मक उपयोग करना है। कैसे करना है? जैसे हम कोई फ़ॉर्म भरने की लाईन में खड़े हैं और आगेवाले का फ़ॉर्म अस्वीकार (reject) हुआ तो हम क्या करेंगे? उससे पूछेंगे कि क्या भूल थी? उसकी भूल देखकर हम अपना फ़ॉर्म सुधार लेंगे। इसी प्रकार जहाँ हमें दूसरे का दोष दिखायी दे तो हमें अपने अन्दर देखना है कि क्या यह दोष मुझमें है? यदि है तो निकाल देना। इसी प्रकार हर जगह से हमें लाभ ही लेना है, क्योंकि अन्य किसी से हमें कुछ लेना–देना नहीं है, हमें हर जगह से मोक्षमार्ग के अनुकूल लाभ लेते रहना है। जहाँ जो दोष दिखे वह हममें नहीं होना चाहिये। हो तो निकाल देना, अपनी ही जाँच करनी है, दूसरे की नहीं। यही

सच्ची साधना है, सत्यधर्म के अनुकूल परिणाम है।

३) करुणाभाव :– पापियों के प्रति करुणा रखनी। क्योंकि उन्हें ब्रह्माण्ड के सनातन नियमों की जानकारी नहीं है। इससे हमारा मनोभाव अच्छा रहेगा और नये कर्मबन्धन से बच जायेंगे।

किसी पापी, रोगी या ग़रीब पर तो करुणा आती है। पर कोई आतंकवादी (terrorist) हो, चोर हो उसपर करुणा नहीं आती। क्रोध आता है कि उसे तो उड़ा देना चाहिये, फाँसी दे देनी चाहिये, इत्यादि। तो गये काम से! क्योंकि उनका तो जो होगा वह उनके कर्मों के अनुसार ही होगा, पर हमने अपना निश्चित कर लिया उड़ा देने आदि का क्योंकि जैसा हम दूसरे के लिये चाहते हैं प्रायः वैसा ही हमारे साथ होता है। हम न न्यायाधीश हैं, न पुलिस, न सरकार। हमें अपने अधिकारक्षेत्र (domain) के बाहर होशियारी दिखाकर अपना भविष्य बिगाड़ने की आवश्यकता ही नहीं है, जो हम अनादि से करते आये हैं। किसी के लिये भी ग़लत अभिप्राय नहीं देना है क्योंकि वे भी हमारे जैसे (आत्मा) ही हैं। वर्तमान में भटक गये हैं। इसलिये उनके प्रति करुणा ही रखनी है। वह बेचारा है क्योंकि उसे ब्रह्माण्ड के सनातन नियमों की जानकारी ही नहीं है। इसलिये उसके प्रति करुणा रखो क्योंकि हम भी एक दिन ऐसे ही थे ऐसा सोचकर हमें मन में धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) करना है। तभी ऐसे जीवों के प्रति करुणा रहेगी।

४) मध्यस्थभाव / कोई भी प्रतिभाव नहीं :– जब कोई हमें दु:ख दे तब मौन और शान्त रहना और हृदय में आभार! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) के तीन चरणों का चिन्तन करना।

पहला चरण: जिस पाप का उदय है उसके कारणरूप अपने (ऐसे)

पूर्व (भूतकाल) के दुष्कृत्यों के लिये क्षमा माँगना। (Sorry! Sorry!)

दूसरा चरण: नये कर्मबन्धन से बचने के लिये निश्चय करना कि अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा। (Never again)

तीसरा चरण: सामनेवाले व्यक्ति को अपने भूतकाल के पापकर्मों को शुद्ध करनेवाला–उपकारी मानकर उसे मन में धन्यवाद देना (Thank you!) & इससे क्रोध, अप्रसन्नता, निराशा आदि नहीं आयेंगे। इसलिये हमारी ख़ुशी बनी रहेगी जो स्वागतयोग्य बात है। (Welcome!)

इस प्रकार करने से हम दूसरों के प्रति द्वेष–अप्रसन्नता के विषचक्र से बच जायेंगे। नकारात्मक विचारों से बचकर सकारात्मक विचारों में प्रवृत्त रह सकेंगे। Thank you! का उपयोग अग्निशमन के रूप में पहले करना है और तीन चरणों का उपयोग प्रतिक्रमण की तरह बाद में करना है।

मध्यस्थभाव अर्थात् क्या? मध्यस्थभाव अर्थात् कोई प्रतिभाव नहीं अर्थात् no response। जैसे हमारा कोई शत्रु हो पर अब मैत्रीभावना के कारण वह हमारा शत्रु नहीं रहा पर उसके मन में हमारे प्रति शत्रुता हो सकती है। हमने तो उसे मित्र मान लिया पर वह हमें मित्र नहीं मानेगा। वह भला क्यों मित्र माने? उसे कहाँ मोक्ष चाहिये है? जिसे मोक्ष चाहिये है उसे मैत्रीभावना से सबको मित्र मानना पड़ेगा। तो वह जब सामने आयेगा तब हमारा अहित करने का प्रयत्न करेगा। अगर वह गाली दे या अपशब्द बोले तो हमें क्या करना है? No response अर्थात् शान्त रहना। यहाँ हम बाहर से तो शान्त रह सकेंगे पर भीतर से तो आग–बबूले हो जायेंगे! वह तो ऐसा ही है या ऐसा क्यों कहा, वैसा क्यों कहा, इत्यादि विचार शुरू हो जायेंगे।

तो उसके लिये एक प्रयोग करना है। धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank

you! Welcome!) का प्रयोग, जो सभी भगवान बने साधकों ने किया है। हमें भी यही प्रयोग करना है। धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) हमारी प्रसन्नता के लिये कवच है। तो यह टेकनीक (रीति) सीख लेनी है। अभ्यास कर लेना है। अवचेतन मन में अन्दर उतार लेनी है ताकि आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग कर सकें। यदि हम इस रीति को अवचेतन मन में अन्दर नहीं उतारते तो हम उसका उपयोग नहीं कर सकते। यह प्रयोग हमारे 'सम्यग्दर्शन की विधि' पुस्तक के चौबीसवें प्रकरण में अलग से दिया है। उसे दिन में चार–पाँच बार पढ़कर मन में उतारना है। कम से कम रात को सोते समय, सोने से पहले बार–बार पढ़ना है। तब वह अवचेतन मन में उतर जायेगा। जिससे नयी प्रोग्रामिंग हो जायेगी। अब हम समझेंगे कि धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank You! Welcome!) क्या है?

धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) इस प्रकार है –

एक बात तो निश्चित ही है कि हमें जो भी दुःख प्राप्त होता है, उसमें दोष हमारे ही पूर्व के पापों का ही होता है, किसी और का नहीं। जो अन्य लोग हमें दुःख पहुँचाते प्रतीत होते हैं, वे तो सिर्फ़ निमित्तमात्र ही हैं। उसमें उनका कोई दोष नहीं है; बल्कि वे तो हमें हमारे पूर्वकृत पापों को छुड़ानेवाले ही हैं।

लेकिन ऐसी समझ न होने से जब हमें उन निमित्तों के प्रति ज़रा सा भी क्रोध या ख़राबभाव आये, तब हम पुनः पाप बाँध लेते हैं – जो कि भविष्य के दुःखों का निमित्तकारण बनने के लिये सक्षम है।

इसी प्रकार अनादिकाल से हम दुःख भोगते हुए, नये दुःखों का सृजन करते आ रहे हैं, और अभी भी वही कर रहे हैं।

ऐसे अनन्त दुःखों से छुटकारा पाने का मात्र एक ही उपाय है

–कि हम दुःख देनेवाले निमित्त को उपकारी समझें, क्योंकि वही हमारे पापों से छुड़ाने में निमित्त बना है।

मैं उस निमित्त के दोष–गुनाह का चिन्तवन न करूँ, क्योंकि उसका ज़रा–सा भी दोष नहीं है। बल्कि अपने पूर्व के दुष्कृत्य ही वर्तमान दुःख के कारण हैं। इसलिये यह विचार करें कि:

१. ओह! मैंने ऐसा दुष्कृत्य किया था! धिक्कार है मुझे! धिक्कार है!! मिच्छामि दुक्कडं! उस दुष्कृत्य के लिये मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा! (यह प्रतिक्रमण है) (Sorry! Sorry!)

२. अब मैं निर्णय करता हूँ कि ऐसे किसी भी दुष्कृत्य का आचरण फिर से कभी नहीं करूँगा! कभी भी नहीं करूँगा! (यह प्रत्याख्यान है) (Never again!)

३. और फिर अपने दुःख के कारण के रूप में दूसरों को दोषी देखने की बजाय, अपने ही पूर्वकृत भावों को, यानी पूर्व के अपने ही पापकर्मों को, अर्थात् स्वयं को दोष दें और अन्य को उन पापों से छुड़ानेवाला मानकर, उपकारी समझकर मन में धन्यवाद दें! स्वागतम् कहें! – (Thank You! Welcome!) और नये पापों से बचें (यह समताभाव – संवर – सामायिक है)।

हमने पहले देखा कि हमारे साथ जो भी होता है वह हमारे भूतकाल का ही दर्पण है। तो अब जब कोई हमें गाली देता है तो जब तक हम उसे दर्पण के रूप में नहीं देखेंगे तब तक वह अपराधी लगेगा, परन्तु जब हम उसकी जगह दर्पण देखेंगे तो अपने ही भूतकाल का प्रतिबिम्ब दिखाई देगा। तुरन्त ही हमें सोचना है कि मैंने भूतकाल में गाली दी थी! दर्पण को अंग्रेज़ी में Mirror कहते हैं। Mirror (दर्पण) को याद रखना है। जिसमें 'MI' अर्थात् हम और 'RROR' अर्थात् अरेरे! दूसरे प्रकार

से Me...R...R अर्थात् अ...रे...रे! मैं ऐसा था! जब कोई हमारा अहित करे तो Mirror (दर्पण) को याद करके सोचना है कि मैंने भी ऐसा किया होगा या करवाया होगा या अनुमोदना की होगी, ऐसा सोचकर सामनेवाले व्यक्ति को हमारे पाप धोने में मददगार (helper) मानना है, उपकारी मानना है। जैसे कोई हमें गाली दे तो तुरन्त Mirror (दर्पण) को याद करना है क्योंकि वह हमारे भूतकाल का ही दर्पण है अर्थात् मैंने जो गालियाँ दी थीं वही मुझे मिल रही हैं। अब तक हम उसे ही अपराधी समझते थे, पर अब समझ में आया कि अपराधी तो हम स्वयं हैं। ऐसी समझ होने पर तुरन्त क्या होगा? सबसे पहले हम अपने अपराध के लिये मन में क्षमा माँगेंगे – Sorry! Sorry! Sorry! उत्तम क्षमा! मिच्छामि दुक्कडं! यह धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) मन में ही करना है। मैंने जो गाली दी थी उसके लिये क्षमा माँगनी है। I am sorry!

दूसरी बात, हमें गाली पसन्द नहीं है और यदि हम गाली देंगे तो वह भविष्य में वापिस हमें ही मिलेगी, यह निश्चित है। इसलिये अब हमें प्रतिज्ञा करनी है कि अब मैं किसी को भी गाली नहीं दूँगा। कभी नहीं दूँगा। पहला हुआ प्रतिक्रमण, और यह दूसरा हुआ प्रत्याख्यान (पच्चखाण)। अब हम किसी को भी गाली नहीं देंगे – यह निश्चय कर लिया, कभी नहीं दूँगा। (Never again!)

और तीसरा सबसे महत्वपूर्ण है। हमारे पड़ोसी आकर हमारे यहाँ झाड़ू–पोंछा या सफ़ाई कर दें तो हम उन्हें धन्यवाद! (Thank you!) तो कहेंगे ही न? अवश्य कहेंगे, दिल से कहेंगे। तो उसी प्रकार यदि किसी ने हमें गाली दी तो उसने क्या किया? मैंने जो भूतकाल में किसी को गाली दी थी उसका कर्मरूपी कचरा मेरे साथ ही था, वह कर्मरूपी कचरा वह ले गया। उसने हमारी सफ़ाई कर दी, तो वह उपकारी हुआ न?

उपकारी को तो हम धन्यवाद! (Thank you!) कहते ही हैं न? तो बस, मन में धन्यवाद! (Thank you!) कहना है। ज़ोर से नहीं, नहीं तो सामनेवाला चिढ़ सकता है। किसी को चिढ़ाने के लिये भी ज़ोर से धन्यवाद! (Thank you!) नहीं कहना है।

यदि दोनों को यह धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) की जानकारी हो तब भी दूसरे को चिढ़ाने के लिये ज़ोर से धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) नहीं कहना है, क्योंकि उससे नये कर्म बँधते हैं। दूसरे को चिढ़ाने का भाव भी नहीं होना चाहिये। यदि हमारे भाव ग़लत या ख़राब हों तो नये कर्म बँधते हैं। धन्यवाद! (Thank you!) का भाव सबके लिये होना चाहिये, वे हमारी सहायता करनेवाले (helpers) हैं। हमारे आसपास जितने भी हैं वे सब हमारी सहायता करनेवाले (helpers) हैं। कोई हमें सकारात्मक (positive) सहायता करता है तो कोई हमें नकारात्मक (negative) सहायता करता है। बस अन्तर इतना है कि एक को हम धन्यवाद! (Thank you!) कहते हैं जबकि दूसरे को धन्यवाद! (Thank you!) नहीं कहते बल्कि गाली देते हैं। तो अब नयी समझ के अनुसार एक को प्रकट धन्यवाद! (Thank you!) कहना है और दूसरे के लिये मन में धन्यवाद! (Thank you!) कहना है।

यह धन्यवाद! (Thank you!) हमारे क्रोध के लिये अग्निशमन का कार्य करता है अर्थात् धन्यवाद! (Thank you!) fire fighting का काम करता है। इसलिये प्रतिकूलता के समय हमें सबसे पहले मन में धन्यवाद! (Thank you!) कहना है। उसका जादुई प्रभाव तुरन्त होता है। जैसे आग लगते ही पानी डालते हैं तो आग तुरन्त बुझ जाती है, वैसे ही अप्रिय संयोगों में हमें सबसे पहले मन में धन्यवाद! (Thank you!) ही कहना है जिससे आग लगे ही नहीं। नहीं तो हमारे भीतर आग लग जायेगी, भीतर से

जल जायेंगे। तो अब से हमें धन्यवाद! (Thank you!).... धन्यवाद! (Thank you!).... धन्यवाद! (Thank you!) का उपयोग अपने जीवन में करना है और अपने मन को शान्त और प्रसन्न रखना है। हम बचाव अवश्य कर सकते हैं परन्तु क्रोधित हुए बिना। अपने भाव बिगाड़े बिना हम सामनेवाले जीव को उचित प्रकार से समझा सकते हैं। संसारी अपने बचाव में युद्ध भी कर सकता है पर भाव बिगाड़े बिना, जबकि साधु अपना बचाव नहीं कर सकते क्योंकि साधु की अहिंसा नौ प्रकार (करना–कराना–अनुमोदना X मन–वचन–काया से) की होती है, जबकि संसारी को बिना कारण की अर्थात् अनर्थ (बिना कारण की) हिंसा का ही त्याग होता है।

इस धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) के अन्य भी अनेकों प्रयोग हैं। वे भी हम कर सकते हैं। जैसे हम आतंकवादी (terrorist) या चोर का उदाहरण समाचार में देखें या पढ़ें या सुनें या कहीं कोई ऐसी बात करता हो तो उस समय भी धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का प्रयोग करना है। कैसे करना है? उत्तर: अहो! मैं भी भूतकाल में ऐसा अनेक बार कर चुका होऊँगा क्योंकि अनादि से हमने सब कुछ अनन्त बार किया है। हम अनेक बार चोर भी बने हैं या आतंकवादी (terrorist) भी बने हैं। भूतकाल में हमने सब कुछ किया होगा या करवाया होगा या अनुमोदन भी किया होगा। इसलिये ऐसा सोचना है कि अहो! मैं भी ऐसा ही था, मिच्छामि दुक्कडं! Sorry! Sorry! Sorry! इससे यदि ऐसे कर्म सत्ता में पड़े हों, पहले के हो भी सकते हैं, तो हल्के हो जायेंगे। और यदि ऐसे कर्म सत्ता में न हों तो भी ऐसा न करने के संस्कार पड़ जायेंगे। उससे जैसे ही अवसर मिलेगा कि चोरी कर लो आदि की वृत्तियाँ मन से हटने लगती हैं।

पहले ऐसा ही करना है कि मैं भी ऐसा ही था. मिच्छामि दुक्कडं! Sorry! Sorry! Sorry! अब मैं ऐसा नहीं करूँगा। कभी नहीं करूँगा। (Never again!) इससे हमारा अभिप्राय सम्यक् बनने लगता है। सामनेवाले को धन्यवाद! (Thank you!) देना है, नहीं तो हम गाली देंगे कि यह तो ऐसा ही है, वैसा ही है, इत्यादि। उसे धन्यवाद! (Thank you!) देना है, क्योंकि वह मेरे भूतकाल का ही दर्पण है। इसलिये वह मेरा ही भूतकाल दिखा रहा है। मुझे ही जागृत कर रहा है। मेरा लाभ करा रहा है। यह बात समझानेवाले को भी धन्यवाद! (Thank you!) देना है।

हर जगह धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का उपयोग करना है। यदि उपयोग नहीं करेंगे तो हम नये कर्मों से बँधते ही रहेंगे। पुराने कर्मों की शृंखला नहीं टूटेगी और हम कर्मों के विषचक्र में फँसे ही रहेंगे। हम न न्यायाधीश हैं, न पुलिस के रूप में कर्तव्य निभा रहे हैं। इसलिये ऐसे लोगों के लिये उल्टा-सीधा बोलने का हमें कोई अधिकार (domain) ही नहीं है।

जैसे कोई पक्षी मांसभक्षण कर रहा हो, किसी का शिकार कर रहा हो तो बचा सकते हों तो अच्छा है। पर दूर हो या समाचार माध्यम से देख रहे हों या कभी किसी को शिकार करते देख रहे हों, तब भी हमें उपर्युक्त धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का उपयोग करना है। किसी भी जगह हम अपने पुराने पाप धोने के लिये इसका उपयोग कर सकते हैं।

फ़िल्म, सीरियल आदि देखने की भी विधि आनी चाहिये। जो नहीं देखना चाहता वह तो अच्छी बात है, पर जिसे बाध्य होकर देखना पड़े तो वहाँ भी धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का प्रयोग कर सकते हैं। जैसे अहो! मैं भी ऐसा ही था ऐसा सोचकर प्रत्येक ग़लत पात्र के लिये धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) करना है। मोह के लिये और मोह के पात्र के लिये भी धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank

you! Welcome!) करना है। अनादि से हमने क्या नहीं किया? सब कुछ अनेक बार किया है, अब नहीं करना है।

हमें अपने परिवार में अर्थात् पति–पत्नी के सम्बन्ध में, पुत्र–पुत्री के सम्बन्ध में, माता–पिता के सम्बन्ध में, भाई–बहन के सम्बन्ध में, देवरानी–जेठानी के सम्बन्ध में, ननद–भाभी के सम्बन्ध में, सास–बहू के सम्बन्ध में तथा सगे–सम्बन्धी–मित्र आदि के सम्बन्धों में भी धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का उपयोग करना है। अपने आसपास के प्रत्येक जीव के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने हैं और उनका आत्मकल्याण ही चाहना है।

हर जगह, हर संयोग में धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) किया जा सकता है। इससे पुराने संस्कार निकलते जायेंगे, नये संस्कार बनते जायेंगे और किसी के प्रति भी दुर्भाव या अभाव नहीं आयेगा। क्योंकि बुरे मनुष्यों के प्रति दुर्भावना न आये तो भी अभाव तो आ ही जाता है, वह अभाव भी नहीं आयेगा क्योंकि धन्यवाद! (Thank you!) कहने से हम दूसरे का बुरा नहीं मानते। इस प्रकार इन चार भावनाओं और धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) के बाहर कभी भी जाना ही नहीं है। यही हमारा रक्षाकवच है। हमारी प्रसन्नता का सुरक्षाकवच (shield of your happiness) है। यदि इस कवच से बाहर निकल गये तो हम कर्मों के विषचक्र में फँसे ही रहेंगे, उससे बाहर निकल नहीं सकेंगे।

- **प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वृत्ति में समझदारी से सकारात्मक परिवर्तन करना है, दबाव से नहीं। क्योंकि दबाव से तो दुःख–तनाव–निराशा उत्पन्न होती है। इसलिये यह 'सहजयोग' है, 'हठयोग' नहीं।**

अनादि काल से हमने 'हठयोग' का आचरण करके अपने ऊपर अत्याचार किया है। कैसा अत्याचार किया है? बस रट लिया, जो हमारे लिये तो बोझरूप ही था। सिर्फ़ रटकर या बिना समझ के दीक्षा लेकर

सब कुछ छोड़कर निकल गये और स्वयं को कष्ट देते रहे। दीक्षा सहज होती है, वह छठवें गुणस्थान पर आती है; वह सम्यग्दर्शन के बाद गुणस्थानक्रम के अनुसार सहज रूप से आती है। हाँ, अभ्यास के लिये या पाप से बचने के लिये भी दीक्षा ली जा सकती है, पर उसके लिये अपने पर अपनी शक्ति से अधिक दबाव नहीं बनाना है।

अनादि से हमने कैसे दीक्षा ग्रहण की है? बिना समझ के हम ऐसा ही मानते थे कि दीक्षा लेने से ही हमारा आत्मकल्याण हो जायेगा। और इसी कारण हम ठगे गये। जानकारीरूपी ज्ञान भी उसी प्रकार प्राप्त कर लिया कि सभी शास्त्रों को रट लेंगे, सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेंगे तो हमारा काम (आत्मप्राप्ति) हो जायेगा; पर काम तो हुआ ही नहीं। अन्यथा हम यहाँ नहीं बैठे होते, अभी सिद्धालय में होते।

अब समझने की बात यह है कि हमें स्वयं को सहजता से, समझपूर्वक बदलना है। बदलना अत्यन्त आवश्यक है। पर समझपूर्वक किया गया परिवर्तन स्थायी होता है, और दबावपूर्वक किया गया परिवर्तन थोड़े समय के लिये ही होता है। इसलिये हमें कोई भी कार्य थोड़े समय के लिये नहीं करना है, क्योंकि हमें अपने भविष्य के अनन्तकाल को देखना है। सौ वर्ष तो हैं ही, पर उसके बाद के अनन्त भविष्य को सुधारना है। प्रत्येक बात हमें अनन्त भविष्य को ध्यान में रखकर ही सोचनी और करनी है। यदि हमने अपने जीवन में दबावपूर्वक क्रियाएँ की होंगी तो वे साथ नहीं जायेंगी। पर समझपूर्वक की होंगी तो वे संस्कार के रूप में साथ जायेंगी। क्योंकि वे सहजता से, समझपूर्वक की गयी हैं, इसलिये वे अवचेतन मन में संस्कार के रूप में स्थापित हो जाती हैं।

- **प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर और मन का उपयोग मुक्ति के लिये करना चाहिये। उसके लिये सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन आवश्यक है। इसलिये इस जीवन का पहला लक्ष्य सम्यग्दर्शन की प्राप्ति ही होना चाहिये। उसके लिये सबसे पहले सांसारिक**

इच्छाओं का त्याग आवश्यक है, क्योंकि वही संसार का इंजन है; न कि घर, परिवार या धन का त्याग। अपनी इच्छा, अभिप्राय और पसन्द–नापसन्द को हर दो घण्टे में जाँचकर, उन्हें बारह और चार भावना की मदद से मूल से नष्ट करना है। चार संज्ञाओं (आहार, मैथुन, भय, परिग्रह) के प्रति आदर छोड़कर उन्हें मन्द करने का प्रयास भी करना है।

अनादि से हमने शरीर और मन का उपयोग किसलिये किया है? सुख के पीछे भागने के लिये। सुख तो सबको चाहिये। जब तक ऐसी मान्यता है कि सुख बाहर से आता है और हम उसे पाने के लिये दौड़ रहे हैं, तब तक हम शरीर और मन का उपयोग ग़लत ढंग से कर रहे हैं; हम अपने दुःखमय संसार को ही बढ़ा रहे हैं। अर्थात् आत्मा के विरुद्ध ही कार्य कर रहे हैं। तो फिर आत्मप्राप्ति कैसे होगी? अब शरीर और मन का उपयोग मुक्ति के लिये करना चाहिये, अर्थात् आत्मप्राप्ति के लिये करना है। और आत्मप्राप्ति क्यों करनी है?

ऐसा है कि आत्मप्राप्ति मोक्ष का प्रवेशद्वार है। अनन्तसुख का वीज़ा (Visa) है। यदि हमें विदेश जाना हो तो क्या करते हैं? वीज़ा (Visa) लेते हैं। सुख तो सबको चाहिये, पर कैसा सुख चाहिये? जो कभी समाप्त न हो। वर्तमान का सुख थोड़े समय के बाद समाप्त हो जाता है। हमें तो ऐसा सुख चाहिये जो सदा बना रहे। जो कभी समाप्त न हो, वह स्वाधीन सुख है। अभी का सुख पराधीन है। स्वाधीन सुख, जो कभी न जाये, जिसका कभी अन्त न हो, ऐसा सुख चाहिये। उसके लिये वीज़ा (Visa) है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन अर्थात् शुद्धात्मा की अनुभूति।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के लिये आत्मसन्मुखता प्राप्त करनी होगी, और आत्मसन्मुखता वैराग्यादि योग्यताओं के बिना कभी नहीं आती, क्योंकि वैराग्य के बिना जीव बहिरात्मा होता है। जिसे जगत के प्रति वैराग्य नहीं है, उसे बाह्यजगत ही अच्छा लगता है, प्रिय लगता है और उसी का

आकर्षण होता है। इसलिये उसे बाह्यजगत का ही मूल्य अधिक प्रतीत होता है। प्रत्येक जीव को जो मूल्यवान लगता है, उसके पीछे ही उसके प्रयास होते हैं, उसे पाने के ही उसके प्रयास होते हैं। इसलिये उसे बहिरात्मा कहा जाता है।

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताएँ प्राप्त करता है, तभी वह आत्मसन्मुख बनता है। आत्मसन्मुख होने के बाद ही वह आत्मानुभूति कर सकता है। उस समय उसका मैंपन ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा में ही होता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि – अर्थात् ज्ञानी – कहलाता है।

वैराग्यादि योग्यताओं के अभाव में आत्मा परसन्मुख या बहिरात्मा ही रहती है। जब तक पर में सुखबुद्धि है, तब तक जीव को आत्मानुभूति नहीं होती। बहिरात्मा जीव को ऐसा भ्रम होता है कि सुख पर से आता है। इसलिये वह परवस्तु या परव्यक्ति के पीछे दौड़ता रहता है और इच्छित परवस्तु या परव्यक्ति मिल जाने पर उसके मोहपाश में बँधकर ही जीता है।

यदि कोई जीव ऐसा सुख चाहता है जो कभी समाप्त न हो – जो अव्याबाध, शाश्वत और नित्य हो – तो वह सिर्फ़ आत्मानुभूति से ही सम्भव है। आत्मानुभूति के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता, और आत्मप्राप्ति के बिना अनन्त अव्याबाध सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति भी असम्भव है।

इसलिये सिर्फ़ आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यप्राप्ति हेतु अनित्य आदि बारह भावना, मैत्री आदि चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) आदि का चिन्तन–मनन करना चाहिये और स्वयं को निरन्तर जाँचते रहना चाहिये। **आत्मपरीक्षण के लिये स्वयं से ये प्रश्न पूछने चाहिये:**

मुझे क्या अत्यन्त प्रिय लगता है?
किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मुझे मोह या मूर्च्छा है?
मेरी तीव्र इच्छाएँ कौनसी हैं?

ऐसी कौनसी वस्तु है जिसके बिना मैं जी नहीं सकता?

इन प्रश्नों से स्पष्ट हो जायेगा कि अपनी बहिर्मुखता या परसन्मुखता कितनी है। चार संज्ञाओं (आहार, मैथुन, भय, परिग्रह) के प्रति कितना आदर है। फिर इस बहिर्मुखता आदि का उपचार बारह भावना आदि के अभ्यास से करते हुए अपने अभिप्राय को आत्मसन्मुख बनाते रहना, यही आत्मानुभूति का मार्ग है।

- **सत्य अपने भीतर ही है। उसे खोजने कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है।**

सत्य खोजने कहाँ जायेंगे? जैसे सुख हमारे भीतर ही है, वैसे हमारा सत्य भी हमारे भीतर ही है। वही हमारा परमसत्य है और प्रत्येक को अपना वही परमसत्य प्राप्त करना है। हमारे लिये वही हमारा जगत है। वही हमारा सर्वस्व है। उसके बाहर हमारा कुछ भी नहीं है, कुछ है ही नहीं। वही हमारा जगत है, वही हमारा विश्व है, वही हमारा चिदाकाश है। वही हमारे लिये सत्–चित्–आनन्दस्वरूप जगत है; इसलिये उसी में आदि से अनन्तकाल तक स्थिर हो जाना है। बाहर से मार्गदर्शन लिया जा सकता है। उसे भी उचित परीक्षा करके ही अमल में लाना है।

- **जिसने सत्य का अनुभव किया है, वही दूसरों को वह मार्ग दिखा सकता है। ऐसे व्यक्ति कभी स्वयं को संसार की चकाचौन्ध में नहीं लाते। वे पद, प्रसिद्धि और धन के पीछे नहीं पड़ते।**

जिसने सत्य का अनुभव किया है, वही दूसरों को वह राह दिखा सकता है। ऐसी व्यक्ति कभी स्वयं को संसार की चकाचौन्ध में नहीं लाते। वे पद, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि, यश, कीर्ति, सम्मान, वैभव और धन इत्यादि के पीछे नहीं भागते। वे जगत के आकर्षण से दूर रहकर सच्चे साधकों को व्यक्तिगत मार्गदर्शन देते हैं। यही ज्ञानी होने का एक लक्षण

है। जो अपने यश, नाम, कीर्ति, धन, अनुयायी वृद्धि के प्रति लालायित है, दौड़ते है, वह ज्ञानी तो क्या, साधक भी नहीं है।

- **सम्यग्दर्शन (आत्म साक्षात्कार) प्राप्त करने के लिये साधक सत्य को स्वीकारने (Ready to accept) और उस सत्य के अनुसार स्वयं को बदलने (Ready to change) के लिये तैयार होना चाहिये।**

सम्यग्दर्शन के लिये संसार की इच्छा, अपेक्षा, आकांक्षाएँ छोड़ना बहुत ही आवश्यक है। धन, परिवार, घर आदि छोड़ने की आवश्यकता नहीं है। संसार की इच्छा, अपेक्षा, आकांक्षाएँ छोड़ने के लिये हमें स्वयं को हर दो घण्टे में चेक करते रहना चाहिये और १२ भावनाओं का चिन्तन–मनन करके सांसारिक इच्छाओं को जड़ से हटाने की आवश्यकता है।

सम्यग्दर्शन के लिये कौन योग्य है? योग्यता का पैमाना ऊपर दिया गया हैं। स्वयं को तुरन्त बदलने के लिये तत्पर रहना है। सत्य को स्वीकारने के लिये तत्पर रहना है।

शास्त्र कैसे पढ़ने चाहिये? तो उन्हें दर्पण की तरह पढ़ने चाहिये। जैसे दर्पण के सामने देखते हैं तब हम अपने बाल, चेहरा आदि ठीक कर लेते हैं, उसी प्रकार शास्त्र पढ़ते समय भी उनमें जो लिखा है वह मुझमें है या नहीं यह जाँचना चाहिये और यदि न हो तो उसे लाने का प्रयास करना है। हमारे जीवन में जो ग़लत बात हो अर्थात् जो अनुचित आचरण हो उसे अपने जीवन से दूर करना है।

अपने जीवन से बुराई कैसे दूर करेंगे? शास्त्र का ही विचार करके, अच्छे चारित्र का मनन–चिन्तन करके अपने जीवन से बुराई दूर करें यही साधना है। मन की भूमिका बहुत ही महत्वपूर्ण है। क्योंकि बदलना अर्थात् बाहर से कुछ अधिक नहीं बदलना है, भीतर से ही बदलना है। और हमारा जो मन का संसार है उसी को जलाना है क्योंकि मन

का संसार ही इस संसार का बीजरूप है। हमने अनादि से अनेक बार संसार छोड़ा पर यह संसार का बीज नहीं जलाया, इसलिये ही हम इस संसार में फँसे हुए हैं। बीज में अनन्त शक्ति होती है और संसार के बीज को तो जलाया ही नहीं इसलिये ही अनन्त संसार चल रहा है। हमें अपना ध्यान इस बीज पर ही रखना है। जो मन में बसा संसार है उसी को जलाना है।

उसे जलाने का उपाय क्या है? यही कि हम शास्त्र के अनुसार स्वयं को बदलें। बाहर से बदलने की विशेष कोई आवश्यकता नहीं होती क्योंकि वह समझ से सहज ही होता रहेगा। घर, परिवार, पैसे छोड़ने की आवश्यकता नहीं है परन्तु उनके प्रति लगाव छोड़ने की आवश्यकता है। इन सबके प्रति हमारी मूर्च्छा ही हमें रोकती है। मूर्च्छा बिना तो जो है सो है, ठीक है। कर्म के अनुसार जो है सो है, वह हमारा अधिकारक्षेत्र (domain) ही नहीं है। हम सिर्फ़ उसके ट्रस्टी हैं।

तो हम कैसे तय करें कि हमारे अधिकारक्षेत्र में क्या है और क्या नहीं है? हमारे अधिकारक्षेत्र में हमारे भाव, हमारा तीव्र राग–द्वेष, हमारी मूर्च्छा आदि को नष्ट करने के लिये उचित प्रयास करना है। इसलिये जो हमारे अधिकारक्षेत्र में नहीं है उसके पीछे नहीं भागना है। अनादि से हमारी दौड़ इच्छापूर्ति के लिये ही रही है। और हमारी इच्छा ही हमारा इंजन है। इच्छा ही हमें दौड़ाती है, इन इच्छाओं को १२ भावनाओं के प्रयोगात्मक चिन्तन से दूर करना है।

प्रयोगात्मक चिन्तन अर्थात् क्या? जैसे कि हमने कोई एक भावना ली अनित्य भावना तो उसे एक महीना, दो महीने, छह महीने, बारह महीने तक चलाएँ (उसी पर चिन्तन–मनन करें)। अद्‌भुत परिणाम आयेगा! सभी सांसारिक वस्तुएँ हमें अनित्य लगने लगेंगी। इसलिये उनके पीछे की दौड़ रुक जायेगी। अपने आप ही रुक जायेगी। क्योंकि हम जिसे महत्व देते हैं उसी के पीछे हम भागते हैं। जब बाह्यजगत का मूल्य

घटेगा तो उसके पीछे भागना ही बन्द हो जायेगा। क्योंकि सब कुछ अनित्य है। थोड़े समय के लिये ही है क्योंकि वे सभी पर्याय ही हैं जो सदैव क्षणिक होते हैं।

जब हम कोई वस्तु ख़रीदने जाते हैं तब हम अच्छी वस्तु, टिकाऊ वस्तु, स्थायी रहनेवाली या जो तुरन्त टूट न जाये ऐसी ही वस्तु ख़रीदते हैं। परन्तु अनादि से हम जिस सुख के पीछे भागते हैं वह अनित्य है, वास्तव में सुख ही नहीं है, वह सुखाभास है और वह भी अनन्तकाल की तुलना में बहुत ही अल्प समय के लिये होता है और उसके पीछे भागने के कारण अनन्तकाल का दुःख मिलता है। अनादि से संसार में एक समीकरण काम करता है कि एक समय के सुख के पीछे भागने से अनन्तकाल का दुःख आ सकता है। जिसे एक समय का सुख चाहिये, उसे अनन्तकाल का दुःख मिलेगा। क्योंकि जो पर में सुखबुद्धि है वह हमें अन्तत: (eventually) अनन्तकाल के लिये निगोद में ले जाती है। तो अब तय कर लो कि कौनसा सुख चाहिये? कभी न समाप्त होनेवाला सुख चाहिये या अभी जो दिखता है ऐसा सुख चाहिये? इस प्रकार अपना भविष्य सँवारने के लिये अपने विचार बदलने हैं। सांसारिक सुख तो अनन्तकाल के निगोद के अनन्त दुःखों में फँसानेवाला विज्ञापन (advertisement) मात्र ही है।

अनेक लोग ध्यान करते हैं, तो भगवान ने ध्यान के चार प्रकार बताये हैं। १) आर्तध्यान २) रौद्रध्यान ३) धर्मध्यान ४) शुक्लध्यान। आर्तध्यान और रौद्रध्यान से कैसे बचना है? यूनिवर्सल लॉ अमल में लाने से आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचा जा सकता है। यह पूरा यूनिवर्सल लॉ धर्मध्यानरूपी है। इस काल में शुक्लध्यान नहीं होता और इसलिये हमारे लिये वह उपयोगी भी नहीं है। अभी हमारे लिये सिर्फ़ धर्मध्यान ही उपयोगी है इसलिये हम सिर्फ़ धर्मध्यान ही कर सकते हैं।

ध्यान किसका होता है? जो हमने जाना है उसी का ध्यान होता

है, जो नहीं जाना उसका ध्यान नहीं होता। न जाना हुआ मात्र कल्पनारूप ही होता है, इसलिये न जाने हुए के ध्यान को शास्त्र में गधे के सींग के ध्यान के समान कहा है। तो हम आत्मा का ध्यान कब कर सकते हैं? आत्मा का अनुभव कर लेने के बाद। सब कहते हैं भगवान ने साढ़े बारह वर्ष क्या किया? तो भगवान ने आत्मा में रहने का प्रयास किया, उसी का अनुभव, उसी का ध्यान बस यही साधना है। जब तक आत्मा का अनुभव नहीं होता तब तक क्या करना है? बस, यही धर्मध्यान करना है। धर्मध्यान के केन्द्र में आत्मा होनी चाहिये तभी वह धर्मध्यान कहलाता है, अन्यथा वह धर्मध्यान नहीं कहलाता।

- **स्वयं को ही बदलना सरल है, दूसरों को बदलना अत्यन्त कठिन है और आक्रोश, निराशा और उद्वेग का कारण भी बनता है।**

स्वयं को बदलना है, क्या आप तैयार हैं? देखो, मोक्ष चाहिये तो सत्यधर्म को स्वीकारने के लिये तैयार रहना पड़ेगा (Ready to accept) और उसके अनुसार स्वयं को बदलने के लिये तैयार रहना पड़ेगा (Ready to change)। तो मोक्ष मिलना आसान है, आत्मप्राप्ति आसान है।

अनादि से हमने क्या किया? हमें बदलना ही नहीं हैं, हम जैसे हैं वैसे ही रहकर आत्मप्राप्ति करनी है। हाँ पढ़ लेंगे, रट लेंगे, दीक्षा भी धारण करेंगे। परन्तु अपना अभिप्राय नहीं बदलेंगे तो कार्य नहीं होगा। अनादि से यही हमारे साथ हुआ है। बस अब नहीं ...No more. हमें अपनी अनादि की उल्टी दिशा बदलनी है।

- **हमेशा याद रखना कि प्रत्येक जीव के पास अनन्तकाल तक रहने के दो ही विकल्प हैं। (१) सिद्धावस्था (अनन्तसुख) और (२) निगोद (अनन्त दुःख)। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को सिद्धावस्था के लिये ही पुरुषार्थ करना चाहिये, अन्यथा निगोद तो किसी भी प्रयास के बिना (by default) मिलना ही**

है।

क्या चुनेंगे आप? यदि मोक्ष नहीं प्राप्त करेंगे तो निगोद तो बिना किसी प्रयास के (by default) मिलना ही है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति को मोक्ष के लिये ही प्रयास करना चाहिये।

हम कहने के लिये तो यही कहते हैं कि मोक्ष ही चाहिये, अनन्तकाल का सुख ही चाहिये और भागते हैं इस थोड़े समय के सुख के पीछे, क्षणिक सुख के पीछे। सांसारिक सुख तो वास्तव में सुखाभास ही है। वह सुख नहीं है परन्तु हम उसे ही सुख समझकर उसके पीछे भागते हैं। यही हमारी अनादि की कहानी (story) है। अब कहानी बदलनी है न? तो तय करना पड़ेगा कि मैं किसके पीछे भाग रहा हूँ? क्यों भाग रहा हूँ? अब रुकना पड़ेगा। रुकना अर्थात् उसका महत्व कम करना पड़ेगा। भागना नहीं है, पुण्य होगा तो सहज ही मिलेगा। उसे महत्व नहीं देना है, माँगना नहीं है।

हमें जो कष्ट देता है वह माँग है। सुख मिलना तो है ही, हमारे सभी तीर्थंकर राजा थे। क्यों? क्योंकि पुण्य लेकर ही आये थे। इसलिये सुख मिलना बड़ी बात नहीं है। और वह मोक्षमार्ग में बाधक भी नहीं है। पर सुख के पीछे भागना मोक्षमार्ग में बाधक है। सुख की तीव्र इच्छा होना बाधक है। सुख की तीव्र आकांक्षा करना बाधक है। इसलिये यथार्थ समझ विकसित करके सुख के पीछे भागना छोड़ना है। नहीं तो निगोद किसी भी प्रयास के बिना (by default) मिलना ही है। यही सत्य है, अनादि से ऐसा ही है।

जैसे हम घर से बाहर जाते हैं और फिर वापिस घर ही आते हैं। उसी प्रकार अनादि से आत्मा निगोद में था, अभी हम निगोद से निकलकर भ्रमण कर रहे हैं। रोमिंग (roaming) में हैं। अभी हम थोड़े समय के लिये निगोद से बाहर निकले हैं, यदि सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष

नहीं पायेंगे तो वापिस पहुँच जायेंगे निगोद में, अनन्तकाल के लिये। इसलिये अपने ऊपर दया करनी है। स्वदया की आवश्यकता है। अपने ऊपर दया करेंगे तभी मोक्षमार्ग में प्रवेश के लिये पुरुषार्थ करने का बल मिलेगा। अनादि से हमने दूसरों पर दया अनेक बार की है पर अपने ऊपर नहीं की, वही अब करनी है।

निगोद अनादि से हमारा निवासस्थान है। क्योंकि अनादि से हमारा ९९.९९९९९९% से भी अधिक समय निगोद में ही बीता है। निगोद अर्थात् ऐसे एकेन्द्रिय जीव जिनका अपना स्वतन्त्र शरीर भी नहीं होता। निगोद के एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं। वे सभी जीव एक साथ ही जन्म–मरण करते हैं। उनका आयुष्य बहुत छोटा होता है। हमारे एक श्वासोच्छ्वास में उनके १७–१८ जन्म–मरण हो जाते हैं। इसलिये वे दुःख में ही रहते हैं। कोई एक जीव एकेन्द्रिय में असंख्यात पुद्गल परावर्तनकाल तक रह सकता है और अनन्तानन्त दुःख भोगता है। यदि हमें इस अनादि के विषचक्र से बचना हो तो सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का भरपूर पुरुषार्थ इस भव में करना चाहिये। क्या आप तैयार हैं?

- **अपनी तुलना दूसरों से नहीं करनी है। बल्कि अपने आज की तुलना अपने ही कल से करके आज को सुधारना है। वही दैनिक प्रगति (daily progress) का मार्ग है।**

गिरना बहुत आसान है, एक क्षण में ही गिर जायेंगे, आध्यात्मिक पतन हो जायेगा। परन्तु चढ़ना बहुत कठिन है। इसलिये हमेशा दैनिक प्रगति (daily progress) का ही लक्ष्य रखेंगे तो ही शायद स्थिर रह सकेंगे। नहीं तो स्थिर रहना भी कठिन है। इसलिये हमेशा परिणाम को वृद्धिंगत करते हुए ऊपर लाने का ही प्रयास करना।

परिणाम ऊपर कैसे आयेगा? यदि स्वाध्याय, विचार–चिन्तन–मनन के केन्द्र में आत्मा ही होगी तो परिणाम स्थिर रह सकेंगे, नहीं तो गिरने की तो हमारी अनादि की आदत है, इसलिये एक क्षण में गिर जायेंगे।

फिर ऊपर उठने में कठिनाई होती है। तो हमें दैनिक प्रगति का (daily progress का) ही लक्ष्य रखकर आगे बढ़ना है और साथ में 'यूनिवर्सल लॉ' दिन में दो, तीन, चार बार पढ़कर चेक करते रहना है कि मैंने इन सनातन नियमों को अमल में रखा है या नहीं। हर दो घण्टे में चेक करके इसपर अमल करना है, तभी सावधान रह सकेंगे। आत्मा की जागृति बनी रहेगी। सावधानी अत्यन्त आवश्यक है। सावधानी हटी तो दुर्घटना घटी सही है। इस जन्म में जो दुर्घटना होती है वह तो अनन्तकाल की दुर्घटना के सामने बहुत छोटी ही है, कोई महत्व की नहीं है, एक ही जन्म की है. जबकि सम्यग्दर्शन न पाने से जो दुर्घटना होती है वह तो अनन्तकाल के लिये है। अनन्त जन्मों के लिये है। तो कितनी सावधानी रखनी पड़ेगी इस जीवन में सम्यग्दर्शन पाने के लिये? उसका विचार करना अनिवार्य है।

- **इन नियमों को पूरे दिन के दौरान प्रयोग में लाना है और रात को सोने से पहले उसमें जो त्रुटि हुई हो उसे जाँचकर भविष्य में उसे सुधारने का प्रयास करना है।**

रात को सोने से पहले रोज़ चेक करना है कि मैंने इन सनातन नियमों का कितना पालन किया, यदि नहीं किया हो तो अब से करूँगा यह निश्चय करना। यह एक प्रकार का भावप्रतिक्रमण है।

हम शरीर को रोज़ नहलाते हैं, पर आत्मा को नहीं नहलाते। आत्मा को भी स्नान कराना चाहिये न? तो जब भी समय मिले तब प्रतिक्रमण किया जा सकता है, सुखी होने की चाबी पुस्तक में भी भावप्रतिक्रमण दिया है। यूनिवर्सल लॉ अमल में रखेंगे तो वह भी भावप्रतिक्रमण ही है। धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) भी भावप्रतिक्रमण ही है। जभी उचित लगे तभी इस प्रकार भावप्रतिक्रमण करना चाहिये, करते रहना चाहिये। इससे हमारे जो कर्म सत्ता में होते हैं उनमें बहुत सकारात्मक परिवर्तन हो सकता है और सूली का घाव सुई के घाव समान लघु

हो जाता है। परन्तु जब धर्म के कारण दुःख कम होकर आता है तब भी हमें तो ऐसा लगता है कि सुई भी चुभ रही है।

ऐसी विचारधारा नहीं चलेगी क्योंकि उससे आर्तध्यान होता है। इसलिये स्वयं किये हुए सत्यधर्म पर इतना विश्वास तो होना ही चाहिये कि हमारे साथ जो कुछ भी होता है वह अच्छे के लिये ही होता है। ऐसे सकारात्मक विचारसहित जितना उचित प्रतिकार सम्भव हो उतना प्रतिकार किया जा सकता है, बचाव भी किया जा सकता है, आवश्यक लगे तो बचाव के रूप में आक्रमण भी किया जा सकता है। परन्तु अपने भाव बिगाड़े बिना और सामनेवाले को प्रतिद्वन्द्वी मानकर, शत्रु मानकर नहीं। प्रत्येक के साथ मैत्री आदि चार भावनाएँ और धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) मन में रखकर ही प्रतिक्रिया देनी है। उसमें लड़ना पड़े तो भी हमारे भाव नहीं बिगड़ने चाहिये, मन में सिर्फ़ इतना भाव रखना है कि प्रतिक्रिया आवश्यक है इसलिये दे रहा हूँ।

सभी साधकों को विश्वास होना चाहिये कि मेरे साथ जो कुछ भी हो रहा है वह बहुत कम होकर आ रहा है क्योंकि जब हम भगवान की आज्ञा के अनुसार चलना शुरू करते हैं तब अपने आप ही कर्म बदलने लगते हैं..पापकर्म पुण्यकर्म में परिवर्तित हो सकते हैं, पाप हल्के हो सकते हैं, पुण्य पक्के हो जाते हैं। हमारे सत्यधर्मानुसार भाव के कारण कर्म अपने आप ही सकारात्मक बनते जाते हैं। सनातन नियमों पर विश्वास वास्तव में भगवान पर ही विश्वास है। यदि भगवान पर विश्वास नहीं है तो इन सनातन नियमों का पालन करना कठिन लगेगा। सबसे पहले भगवान पर विश्वास बढ़ाना है।

यदि हमारे द्वारा भगवान की आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा।

प्रश्न – धर्म यानी क्या?

उत्तर – धर्म का सामान्य अर्थ सम्प्रदाय समझा जाना है परन्तु धर्म का सच्चा अर्थ वस्तु का स्वभाव (गुणधर्म) है।

प्रश्न – आत्मा का स्वभाव (गुणधर्म) क्या है?

उत्तर – आत्मा का स्वभाव (गुणधर्म अर्थात् लक्षण) जानना – देखना है।

प्रश्न – आत्मा की पहचान क्या? उसका अनुभव कैसे हो सकता है?

उत्तर – सभी को अपने भाव, ज्ञान, जगत इत्यादि जानने में आते ही हैं किन्तु वे अपने को आत्मा नहीं मानकर, शरीर मानते हैं। यही मिथ्यात्व है। अगर हम अपने को शरीर मानें, तब आँख अच्छी होने पर भी मृत्यु के बाद उस आँख से दिखता नहीं परन्तु वही आँखें अगर किसी प्रज्ञाचक्षु के शरीर में प्रत्यारोपित की जायें तो वह देख सकता है। इस से निश्चय किया जा सकता है कि जानने–देखनेवाली आत्मा मृत शरीर से चली गयी है। जबकि वैसी ही जानने–देखनेवाली आत्मा उस प्रज्ञाचक्षु के शरीर में मौजूद है, जिससे वह देख सकता है। इसी तरह जानने–देखनेवाली आत्मा की पहचान करके आँखों के द्वारा ज्ञेयों को देखती है वह ज्ञायक जानने–देखनेवाली आत्मा, वह मैं स्वयं हूँ, न कि आँखें। वह मैं हूँ, सोऽहम्, वह ज्ञानमात्र स्वरूप ही मैं हूँ, ऐसा निश्चित करना अर्थात् मैं मात्र जानने–देखनेवाला ज्ञायक–ज्ञानमात्र शुद्धात्मा ही हूँ–ऐसी भावना भाना और वैसा ही अनुभव करना। वही अनुभव/सम्यग्दर्शन की विधि है।

प्रश्न – सम्यग्दर्शन के लिए क्या योग्यता आवश्यक है?

उत्तर – सामान्यरूप से सज्ज्ञनता, सरलता, अन्याय–अनीति का त्याग, अभक्ष्य (मांस, मछली, मक्खन, शहद, कन्दमूल, रात्रिभोजन, अचार, पापड़, इत्यादि) का त्याग, सप्त महाव्यसन (जुआँ, शराब, मांसाहार, वेश्यागमन, चोरी, शिकार और परस्त्रीगमन अथवा परपुरुषगमन) का त्याग, भवभ्रमण का डर, संसार असार लगना, भव रोगसमान लगना, स्व आत्मा के कल्याण की तीव्र इच्छा, बारह भावना का चिन्तवन, सभी जीवों को मैत्री आदि चार भावनाओं से ही देखना–समझना, तत्त्व का निर्णय करना और देव–शास्त्र–गुरु का परम आदर आवश्यक है।

२. धर्मध्यान

प्रश्न: धर्म क्या है?

उत्तर: वस्तु का स्वभाव ही उसका धर्म है। आत्मा अपने देखने–जानने के स्वभाव से ही पहचाना जाता है। जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं के साथ आत्मसन्मुखता प्राप्त करके आत्मानुभूति करता है, तब उस जीव का मैंपन शुद्धात्मा में होता है। इसे ही सम्यग्दर्शन कहा जाता है। ऐसे जीव को ज्ञानी कहा जाता है। ऐसा जीव सम्यग्दर्शन होने के बाद अपनी पर्याय का ज्ञाता–द्रष्टा ही होता है। इसलिये वह अकर्ता–अभोक्ता होता है। निश्चयनय की अपेक्षा से ज्ञानी का 'मैंपन' और 'मेरापन' सिर्फ़ शुद्धात्मा में ही होता है, उसे ज्ञानी का अभिप्राय भी कहा जाता है। अतएव ऐसे जीव का अभिप्राय की अपेक्षा से मैंपन और मेरा–पन सदा शुद्धात्मा रूप ज्ञायकभाव में ही होता है। इसलिये ऐसे जीव को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से धर्म में अर्थात् मोक्षमार्ग में प्रवेश मिलता है। आगे वह जीव बार–बार शुद्धात्मा की अनुभूति के द्वारा गुणश्रेणीवाली निर्जरा करके जब शुद्धात्मा में स्थित होता है तब उस जीव को क्षपक श्रेणी लग जाती है और उस जीव को केवलज्ञान–केवलदर्शन होता है। और वह जीव अपना आयुष्य पूर्ण होने पर सिद्धत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार आत्मप्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन और फिर आत्मस्थिरता ही धर्म

है।

हमने अनादिकाल से आज तक अनन्त बार दीक्षा ग्रहण की, अनन्त बार व्रत–तप आदि किये, अनन्त बार ध्यान आदि किये, अनन्त बार 'मैं आत्मा हूँ' या 'मैं शुद्धात्मा हूँ' या 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'तत्त्वमसि' आदि का जप किया या रटा; परन्तु सत्य की प्राप्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई। क्योंकि जब तक जीव वैराग्यादि योग्यताओं की प्राप्ति नहीं करता, तब तक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। अर्थात् सबसे पहले हमें अपने आप को (आत्मा को) मोह के ताप से बचाना है।

हमने अनादिकाल से धर्म को बाहर ही खोजा है; परन्तु आत्मा का धर्म, आत्मा के बाहर कैसे हो सकता है? बाहर से हमें सिर्फ़ दिशा निर्देश ही मिल सकता है, परन्तु उस सम्यक् दिशानिर्देश को प्राप्त करने के लिये हमारे पास पूर्वाग्रह और पक्षपात से मुक्त मन, शास्त्रों का गहन/गहरा अध्ययन, शास्त्रों से सिर्फ़ अपने आत्मकल्याण के लिये कार्यकारी बातों (आत्मनिर्णय और आत्मानुभूति के लिये आवश्यक बातों) को ही ग्रहण करने का भाव आदि होना चाहिये। मन में बसे संसार का कारण है दर्शनमोहनीय कर्म और बाहर के संसार का कारण है चारित्रमोहनीय कर्म। पहले दर्शनमोहनीय कर्म जाता है, तब सम्यग्दर्शन (चौथा गुणस्थान) प्राप्त होता है; और फिर जब चारित्रमोहनीय कर्म क्रमशः जाता है, तब आगे के (पंचम आदि) गुणस्थान प्राप्त होते हैं। अर्थात् बाहर के संसार का नाश क्रमशः होता है। निरन्तर सत्संग की इच्छा, अन्तर्मुखी रहना, अपने दोषों की जाँच करते रहना, उन्हें सुधारने का (दोषों को डिलीट करने का) पुरुषार्थ करते रहना आदि सिर्फ़ आत्मप्राप्ति के लक्ष्यपूर्वक करना आवश्यक है। क्योंकि विद्वानों के लिये भी मोह को परास्त करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। क्योंकि सिर्फ़ शुष्क विद्वता मोह–राक्षस को पराजित करने

के लिये पर्याप्त नहीं है, कार्यकारी नहीं है।

मैं देहरूप नहीं हूँ, बल्कि देह–देवल में विराजमान ऐसी आत्मा हूँ। मैं ही पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से जानने–देखनेवाला एकमात्र ज्ञायक हूँ। इसलिये जब तक मैं उपस्थित हूँ तभी तक ये इन्द्रियाँ जानती–देखती हैं; जैसे ही मैं शरीर से निकल गया (अर्थात् मृत्यु), उसके बाद यही इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जायेंगी। इन्द्रियाँ आत्मा के बिना कुछ भी जान–देख नहीं सकतीं। वास्तव में आत्मा ही सब कुछ जानता–देखता है, न कि इन्द्रियाँ। इसलिये ही आत्मा को ज्ञायक संज्ञा (नाम) प्राप्त है।

अनादिकाल से हम सुख की खोज बाहर ही करते आये हैं। परन्तु सच्चा सुख वही कहलाता है जो स्वाधीन हो, शाश्वत हो, जिससे कभी ऊब न आये, जो दुःख–मिश्रित न हो, दुःख–सहित न हो और दुःख–जनक भी न हो। आत्मा ऐसा सुखमय है। जो भी अन्य सुख प्रतीत होता है या दिखाई देता है, वह सब सिर्फ़ सुखाभास मात्र है। क्योंकि वह क्षणिक है, पराधीन है, दुःख–मिश्रित है, दुःख–सहित है और दुःख–जनक भी है।

अनादिकाल से हम लोकसंज्ञा से प्रेरित होकर जीते आये हैं, अर्थात् लोग जो करते हैं, जो मानते हैं, उसे ही हमने सत्य मानकर जीवन जिया है। इसलिये अनादिकाल से हम इस दुःख–भरे संसार में अनन्त दुःख भोगते आये हैं। इन्द्रिय–भोग से कुछ समय के लिये सन्तोष अवश्य मिलता है, परन्तु भोग भोगने से बार–बार भोगने की इच्छा और अधिक प्रबल हो जाती है। यह इच्छा स्वयं ही दुःखदायक है। इसके अतिरिक्त इच्छा और भोग दोनों ही पापकर्म के कारण बनते हैं, जो भविष्य में उस जीव को दुःख देने में समर्थ हैं। जिन्हें इस तथ्य पर विश्वास नहीं है कि सच्चा सुख आत्मा के अतिरिक्त कहीं नहीं है, वही बाह्य में सुखों

की कल्पना करके उसके पीछे भागते हैं। ऐसा व्यक्ति कभी भी दीर्घकाल में सुखी नहीं होता, क्योंकि ऐसी मान्यता से उनका नरक–निगोद में अनन्तकाल तक रहना निश्चित हो जाता है।

हम आत्मा होते हुए भी अनादिकाल से अपने आप को आत्मा न मानकर अनन्त दुःख सहते आये हैं। यदि भविष्य में भी हम अपने आप को आत्मा नहीं मानेंगे, तो हम हमारा हित–अहित नहीं समझ पाएँगे और इसलिये भविष्य में भी हमें अनन्त दुःख ही मिलेंगे। जब तक हम अपने आप को आत्मा नहीं मानते, तब तक हम आत्मा के हित का विचार कैसे कर सकते हैं? नहीं कर सकते, क्योंकि तब तक हमें अपने स्वहित (आत्महित) की सुध (चिन्ता) भी नहीं होती।

आत्मार्थी कभी भी वाद–विवाद में पड़ना नहीं चाहता। वह तो सिर्फ़ अपने (आत्मा) के लिये क्या आवश्यक है, उसी पर विचार करके, वाद–विवाद के बिना उसका स्वयं पालन करता है। और दूसरों को भी उसके लिये प्रेरणा देता है। वाद–विवाद करने से सत्यधर्म की प्राप्ति असम्भव है, क्योंकि वाद–विवाद तो ऐसे लोग करते हैं जिन्हें सीखना नहीं है, बल्कि सिखाना है। यदि हमारे परिणाम में कोई सुधार दिखाई नहीं देता, तो यह जाँचना आवश्यक हो जाता है कि डॉक्टर (गुरु) ठीक नहीं है, या दवा (साधना) ठीक नहीं है, या हम दवा (साधना) ठीक प्रकार से लेते (करते) नहीं हैं। धन या सांसारिक सुख के लिये धर्म नहीं करना चाहिये, परन्तु सत्यधर्म से धन तथा सांसारिक सुख सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यदि उस धन या सांसारिक सुखों में हम सुख बुद्धि रखते हैं, तो वह धन और सांसारिक सुख भी हमारा अहित ही करते हैं। इसलिये धर्म हमें सिखाता है कि आत्मा के अतिरिक्त और कहीं भी सुखबुद्धि नहीं करनी चाहिये।

शास्त्र–स्वाध्याय का एकमात्र उद्देश्य तत्त्व का भाव–भासन (निर्णय) होना चाहिये। सिर्फ़ विद्वत्ता प्राप्त करने का या विद्वत्ता के द्वारा धन–सम्पत्ति प्राप्त करने का उद्देश्य नहीं होना चाहिये। प्रायः (अधिकतर) हमारा पूर्ण पुरुषार्थ हमारी अपनी रुचि के अनुसार ही होता है। इसलिये जब तक हमारी रुचि संसार में है, तब तक हमें धर्म में सफलता मिलना कठिन है।

धर्म २४ x ७ का होना चाहिये, अर्थात् चौबीस घण्टे और सप्ताह के सातों दिन चलनेवाला होना चाहिये। चार भावना, बारह भावना, अन्य योग्यताओं के वचन और धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank You! Welcome!) का भाव हमें २४ x ७ सजाने (चिन्तन करने) हैं। क्योंकि हमारा कर्म–बन्धन २४ x ७ चलता रहता है, इसलिये उससे बचने का धर्म भी २४ x ७ चलनेवाला होना चाहिये। ऐसा नहीं कि दिन में एक बार प्रक्षाल, पूजा, प्रवचन, सामायिक, नित्यक्रम, स्वाध्याय, ध्यान या प्रतिक्रमण आदि कर लेने से हमारा काम पूरा हो जाता है। जीव को प्रायः अनन्त संसार में डुबोनेवाले स्थान ये हैं: विषय–कषाय, आरम्भ–परिग्रह, अहं–मम (मैं–मेरा), कर्तापन, निमित्ताधीनता, ईर्ष्या, परनिन्दा, दम्भ, शरीर–धन–कामभोग आदि, आर्तध्यान–रौद्रध्यान, प्राप्त धन के प्रति आसक्ति, अप्राप्त की तृष्णा, तत्त्व की विपरीत समझ आदि। इसलिये इन सभी कारणों से बचने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है। यदि हम धर्म करते हैं तो यह जाँचना आवश्यक है कि हम न्याय–नीतिवान हैं या नहीं। यदि हम न्याय–नीतिवान नहीं हैं, तो हम जो धर्म कर रहे हैं, उसे जाँचना पड़ेगा कि वह धर्म सही है या नहीं, क्योंकि सत्यधर्म करनेवाला जीव अन्यायी या अनीतियुक्त नहीं हो सकता।

यदि कोई व्यक्ति दुःख के डर से या किसी अन्य के दबाव में

आकर धर्म करता है, तो वह लम्बे समय तक टिकता नहीं है। परन्तु यदि कोई व्यक्ति सत्यधर्म की यथार्थ समझ के साथ धर्म करता है, तो वह निश्चित ही मोक्षमार्ग (अनन्त सुख) प्राप्त करता है।

ध्यान

मुख्यतः ध्यान दो प्रकार का होता हैं।

१. लौकिक (व्यावहारिक) ध्यान २. पारलौकिक (धर्म) ध्यान

१. लौकिक (व्यावहारिक) ध्यान: लौकिक ध्यान मन की शान्ति के लिये किया जाता है। उसमें न आत्मा केन्द्र में होती है और न ही आत्मा के उत्थान का लक्ष्य होता है। लौकिक (व्यावहारिक) ध्यान कई प्रकार से किया जाता है, मनोचिकित्सक भी इन में से कई ध्यान अपने मरीज़ को इलाज के रूप में कराते हैं। जैसे कि अपनी सांस पर ध्यान केन्द्रित करना, शरीर के कोई अंग या चक्रों पर ध्यान केन्द्रित करना, क्रिस्टल पर ध्यान केन्द्रित करना, बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित करना, शरीर के सूक्ष्म संवेदनों पर ध्यान केन्द्रित करना, अपने विचारों के ज्ञाता–द्रष्टा बने रहने का ध्यान करना इत्यादि।

इन सभी ध्यान का मुख्य उद्देश्य मन को अन्य विषयों में जोड़कर तनाव या व्यग्रता से मुक्त करना होता है। इन सभी ध्यान से अस्थायी रूप से जीव को कुछ समय के लिये शान्ति मिल सकती है। परन्तु उससे उसका आध्यात्मिक उत्थान नहीं होता, क्योंकि –

- एक तो इन ध्यानों में आत्मा केन्द्र में ही नहीं है और
- आध्यात्मिक उत्थान के लिये जीव को अपनी अनादि की उलटी समझ को ठीक करना ज़रूरी है
- पर–सन्मुखता त्यागना ज़रूरी है
- उसके लिये पर से सुखबुद्धि त्यागना ज़रूरी है

- अपनी सांसारिक इच्छाओं को शान्त करना ज़रूरी है
- संसार के प्रति ज्ञान गर्भित वैराग्य ज़रूरी है
- तथा आत्म प्राप्ति का लक्ष्य होना भी ज़रूरी है।

इन सब के लिये भगवान ने हमें धर्मध्यान रूप से आत्म केन्द्रित विचार करने को कहा है। वही वास्तव में धर्मध्यान है। वही मुमुक्षु के लिये कर्तव्य है।

ध्यान – ध्यान के चिन्तन–विचार, भावना, ध्यान और अनुप्रेक्षा – इस प्रकार चार चरण होते हैं। आत्मप्राप्ति के लिये किये जानेवाले ध्यान में हमेशा आत्मा ही केन्द्र में होती है। पर का आलम्बन हो सकता है, परन्तु पर का ध्यान नहीं होता, क्योंकि पर का ध्यान तो आर्तध्यान कहलाता है। जैसे भगवान लक्ष्यरूप में हों या उपदेशरूप में भी हो, पर ध्यान तो सिर्फ़ अपने विचार के बारे में तथा भगवान के कहे चार प्रकार के विचार रूप ही होता है। इसलिये भगवान ने अपने स्वयं के विचार को (जो आत्मा का ही प्रकट स्वरूप है) ही ध्यान का आधार बताया है।

भगवान ने ध्यान के चार प्रकार बताये हैं: (१) आर्तध्यान (२) रौद्रध्यान (३) धर्मध्यान (४) शुक्लध्यान।

इन चार ध्यानों में से पहले दो आत्मा के विरुद्ध होने से करने योग्य ही नहीं हैं और अन्तिम प्रकार वर्तमानकाल में होता नहीं है। इसलिये वर्तमानकाल में हमें सिर्फ़ धर्मध्यान ही करने योग्य है। तल्लीनतापूर्वक विचार करने को ही भगवान ने ध्यान कहा है। क्योंकि ज़हर तो खानेवाले को ही मारता है, जबकि विषय तो सिर्फ़ स्मरण से भी मार सकता है। मन–वचन–काया से कर्म–बन्धन होता है। काया और वचन की तो एक

सीमा भी आ जाती है, पर मन की तो कोई सीमा ही नहीं है। इसलिये अनियन्त्रित मन, अर्थात् बिना प्रशिक्षण का मन, ही अनादि से हमारे अनन्त दुःखों का कारण बनता आया है, क्योंकि मन की कोई सीमा ही नहीं है। हम जो बातें दूसरों से नहीं कह सकते या कहना उचित ही नहीं होता, उन्हें भी मन से सोचने से नहीं रुकते और न ही हिचकिचाते हैं। इसलिये ही किसी ने मन को बन्ध और मोक्ष का कारण कहा है। दूसरे शब्दों में, मन ही हमारा सबसे बुरा शत्रु बन सकता है और मन ही हमारा सबसे अच्छा मित्र भी बन सकता है।

मन का मोक्षमार्ग में इतना महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी अनेक लोग अज्ञानवश मन को निर्विचार करने का ध्यान करते हैं, तो कुछ लोग आत्मा के अनुभव के बिना ही स्वयं को कृत्रिमरूप से ज्ञाता–द्रष्टा मानकर ध्यान करते हैं, तो कुछ लोग किसी बिन्दु, श्वास, शरीर के सूक्ष्मस्पन्दन, शरीर के आज्ञा आदि चक्रों, क्रिस्टल आदि का ध्यान करते हैं। ऐसे सभी ध्यान मानसिक शान्ति अवश्य देते हैं, पर उनसे आध्यात्मिक प्रगति सम्भव नहीं है, क्योंकि उन ध्यानों के केन्द्र में आत्मा नहीं होती। ऐसे ध्यानों से मानसिक शान्ति मिलने के कारण लोग उन्हें ही आध्यात्मिक ध्यान मानने लगते हैं और इस प्रकार वे ठगे जाते हैं; उनके अनन्त संसार का, अर्थात् अनन्त दुःखों का अन्त नहीं होता। इसी कारण भगवान ने विचार–रूप ध्यान को ही आध्यात्मिक प्रगति के लिये प्रधानता दी है – यह समझना अत्यन्त आवश्यक है।

अनेक अज्ञानी लोग भी शुद्धात्मा का ध्यान करते हैं। उन्हें यह जानना चाहिये कि ध्यान सदैव ज्ञात वस्तु का ही होता है; जो ज्ञात नहीं है, उसकी तो सिर्फ़ कल्पना ही होती है। ऐसे कल्पनात्मक ध्यान की तुलना शास्त्रों में आकाश के फूल या गधे के सींग के ध्यान से

की गयी है। इसलिये अज्ञानी, अर्थात् जिन्हें आत्मानुभूति नहीं हुई है, ऐसे लोगों को शुद्धात्मा का ध्यान नहीं करना चाहिये; बल्कि ऐसे लोगों को सिर्फ़ धर्मध्यान ही करना चाहिये, जो वर्तमान में करने योग्य एकमात्र ध्यान है। अज्ञानी जीव भगवान का आलम्बन ले सकते हैं। यह भँवरे और इल्ली के समान है। इसमें भँवरा प्रकट है और इल्ली अप्रकट है; वैसे ही अज्ञानी के लिये शुद्धात्मा अप्रकट है और भगवान शुद्धात्मा के रूप में प्रकट है। इसमें भी सभी इल्ली भँवरे के रूप में परिवर्तित हो जाये ऐसी नहीं होती। अर्थात् सभी इल्ली भँवरे के रूप में परिवर्तित होने योग्य नहीं होती। अतएव योग्यता का बहुत बड़ा महत्त्व है, क्योंकि बिना योग्यता के इल्ली भँवरा नहीं बन पाती। इस प्रकार अज्ञानी जीव वैराग्यादि योग्यताओं को पाने का पुरुषार्थ करके भगवान के स्वरूप का आलम्बन ले सकते हैं। पर यदि कोई अज्ञानी जीव अपने ही काल्पनिक स्वरूप का आलम्बन लेने का प्रयास करेगा, तो वह अप्रकट होने से उसे लाभ के स्थान पर हानि ही करेगा। क्योंकि वह अपने स्वरूप की कल्पना अपनी अशुद्ध पर्याय में ही करेगा और भ्रम से, स्वयं शुद्धात्मा का अनुभव न किया होने पर भी, स्वयं को शुद्धात्मा मानने लगेगा, जो उसके अनन्त संसार का, अर्थात् अनन्त दुःखों का ही कारण बनेगा।

१. आर्तध्यान:

आर्तध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं:

- **अनिष्टसंयोग** – कब समाप्त हों या वे आयें ही नहीं, इसके लिये किये जानेवाले विचार।
- **इष्टवियोग** – कब इष्ट की प्राप्ति हो या प्राप्त इष्ट का कभी वियोग न हो, इसके लिये किये जानेवाले विचार।
- **रोग-मुक्ति या अनिष्टसंयोग का निवारण** – कब होगा, या दूसरों

के रोग देखकर ऐसा लगना कि कहीं ऐसे रोग हमें तो नहीं होंगे? अनिष्टसंयोगों के निवारण की चिन्ता।

- **भविष्य की चिन्ता** या इष्टसंयोगों की इच्छा।

आर्तध्यान को पहचानने के लक्षण अर्थात् चिह्न इस प्रकार होते हैं: रोना, शोक, चिन्ता, संताप, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, वेदना, दूसरों द्वारा हमारा अपमान या तिरस्कार, दूसरों के धन से प्रभावित होना, दूसरों के धन की लालसा रखना, अपनी सम्पत्ति में आनन्दमग्न रहना, धनोपार्जन में डूबे रहना, विषयगृद्धि, शिकायत, मदयुक्त जीवन, व्यसनमग्नता, निन्दा–विकथा–भक्तकथा–राजकथा में तल्लीनता, जिनवचन की अवहेलना आदि – ये आर्तध्यान के सूचक हैं। आर्तध्यान का फल तिर्यंच–गति और अन्त में अनन्त दुःखमय निगोदरूप एकेन्द्रिय गति है। इसलिये जिन्हें अपनी गति नहीं बिगाड़नी है, उन्हें इस ध्यान से बचना आवश्यक है, जिसके उपाय हम आगे बतायेंगे।

आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है। इसे पहचानने के लिये सूक्ष्मदृष्टि की आवश्यकता है। इसलिये सभी साधकों को आर्तध्यान न हो, इसके लिये सावधान रहना आवश्यक है, क्योंकि आर्तध्यान का फल अत्यन्त दुःखदायक होता है।

२. रौद्रध्यान:

रौद्रध्यान के चार प्रकार बताये गये हैं:

- **हिंसानुबन्धी** – छेदन, भेदन, ताड़न, तापन, बँधन, प्रहार, दमन आदि। अतिक्रोध में निर्दय हृदय से तीव्र चिन्तन होना, जैसे – मैं उसे मारकर या किसी अन्य प्रकार से उसे सीधा कर दूँगा; उसे मारने की अलग–अलग विधियों का विचार–संकल्प करना;

उसे भिन्न–भिन्न प्रकार से दुःख पहुँचाने का विचार–संकल्प करना; किसी को मार डालने का विचार–संकल्प करना आदि – करना, करवाना या अनुमोदन करना – हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

- **मृषानुबन्धी** – झूठी चतुराई से दूसरों को ठगना, झूठ बोलकर दूसरों की वस्तु हड़प लेना, दूसरों की अमानत दबा लेना, झूठे धर्म से लोगों को ठगना आदि। दूसरों की झूठी चुग़ली करना, उनके विरुद्ध झूठे आरोप लगाना, बात में नमक–मिर्च लगाकर फैलाना, परघाती वचन, अनिष्टवचन, गालियाँ देना, असभ्य वाणी, असत्य वचन आदि – करना, करवाना या अनुमोदन करना – मृषानुबन्धी रौद्रध्यान कहलाता है।
- **स्तेयानुबन्धी** – क्रूर परिणामों के साथ चोरी करने का विचार, चोरी को अच्छा मानना, उसमें चतुराई मानना, उसके लाभ से प्रसन्न होना आदि, और उसके लिये यदि किसी की जान भी लेना पड़े तो भी न हिचकना; दूसरों की सम्पत्ति–पत्नी आदि हड़प लेना या उसके विचार करना; दूसरों की आँखों में धूल झोंकने का विचार करना आदि – करना, करवाना या अनुमोदन करना – स्तेयानुबन्धी रौद्रध्यान है।
- **परिग्रहानुबन्धी** – रौद्र चित्त से धन, अनाज, सोना, चाँदी, आभूषण आदि की रक्षा के उपाय सोचना–करना, उसी में अपनी बड़ाई मानना, धन की रक्षा के लिये शस्त्रों का संग्रह करना, पंचेन्द्रिय के विषयों के लिये हिंसा करना आदि – करना, करवाना या अनुमोदन करना – यह संरक्षण–सम्बन्धी रौद्रध्यान है।

रौद्रध्यान को पहचानने के लक्षण अर्थात् चिह्न इस प्रकार होते हैं: हिंसा के विचार, उनके निरन्तर विचार – उनकी अधिकता, हिंसा में

आनन्द लेना, लोगों या प्राणियों को लड़वाकर या लड़ते हुए देखकर आनन्द लेना, अज्ञानदोष – अर्थात् अज्ञानी के पापकारी शास्त्रों (कामशास्त्र आदि) का अध्ययन, जो सद्ज्ञान का नाश करता है; मृत्यु तक पाप का पश्चात्ताप न करना; दूसरों को दुःखी देखकर प्रसन्न होना; तीव्र क्रोध–मान–माया–लोभ; हिंसा–झूठ–चोरी को अच्छा या करने योग्य मानना आदि। रौद्रध्यान का फल नरकगति है और अन्त में अनन्त दुःखमय निगोदरूप एकेन्द्रिय गति। इसलिये जिन्हें अपनी गति बिगाड़नी नहीं है, उन्हें इस ध्यान से बचना आवश्यक है, जिसके उपाय हम यहाँ बता रहे हैं।

आर्त और रौद्रध्यान से बचने के लिये मन को आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभावना द्वारा भावित करना आवश्यक है। आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से शुभभाव का अर्थ है – आत्मप्राप्ति में सहायक बननेवाली मैत्री आदि चार भावना तथा धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का उपयोग जीवों के साथ रागद्वेष कम करने के लिये करना; जबकि अनित्य आदि बारह भावना का उपयोग जीव–अजीव के प्रति आकर्षण और इच्छाओं को कम करने तथा संसार और मोक्ष के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये करना है, और आत्मा को केन्द्र में रखकर आत्मसन्मुखता तथा पर–विमुखता प्राप्त करने के लिये करना है। इसमें धर्मध्यान की विचारणा भी सहायक बनती है।

इसके अतिरिक्त पदस्थ ध्यान, अर्थात् मूल मन्त्राक्षरों का ध्यान – जैसे नमस्कार महामंत्र, लोग्गस, नमोत्थ्थुणं आदि – मन की स्थिरता के लिये किया जा सकता है। पिण्डस्थ ध्यान द्वारा पंचपरमेष्ठी का आलम्बन लेकर, अपने शरीर में स्थित आत्मा के जानने–देखने के गुण के कारण आत्मा शरीर से भिन्न है – ऐसे निर्णयपूर्वक स्वयं को आत्मा मानकर

मैं आत्मा हूँ का जाप करना, ताकि जागृति बनी रहे और आत्मा के हित–अहित अर्थात् मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने के लिये आत्मा के लिये हेय–उपादेय का विचार किया जा सके। रूपस्थ ध्यान द्वारा चिद्रूप अरिहंत भगवान के स्वरूप का विचार, अर्थात् भगवान के द्रव्य–गुण–पर्याय का विचार करके अपना ध्येय निश्चित किया जा सकता है। अपना ध्येय निश्चित करने में रूपातीत ध्यान भी सहायता करता है। रूपातीत अर्थात् निरंजन, निराकार सिद्ध परमात्मा का स्वरूप। उनके स्वरूप का उपयोग करके अपने स्वरूप का विचार, ताकि उसकी अनुभूति करने का अपना लक्ष्य निश्चित किया जा सके। और भगवान के स्वरूप का विचार स्वयं को पुरुषार्थ के लिये प्रेरणारूप बनता है। उससे भगवान पर हमारी आस्था दृढ़ होती है, जो हमें धर्मध्यान के लिये परम आवश्यक है। आत्मद्रव्यरूप से अर्थात् द्रव्यात्मारूप से भगवान की आत्मा है, वैसी ही सभी जीवों की आत्मा है। भगवान ने अपने स्वरूप को प्रकट किया है और हमें उसे पहले अनुभूति रूप में प्राप्त करना है और फिर उसमें स्थिरता करके केवलज्ञान–केवलदर्शन रूप में उसे प्रकट करना है।

जब हम अपनी समस्याओं के बारे में चिन्ता करते हैं, तब नियम से हमें आर्तध्यान या रौद्रध्यान होता है। लेकिन यदि उन्हीं समस्याओं के बारे में हम सत्यधर्म के अनुकूल चिन्तन करते हैं, तो नियम से हमें धर्मध्यान होता है। यह कमाल सत्यधर्म को समझने के बाद ही होता है, अन्यथा यह सम्भव नहीं है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिये, समझ को सम्यक् बनाने के लिये सबसे पहले साधक को अपना अहंकार छोड़कर मिथ्यात्व को दृढ़ करनेवाले अपने परिणामों की जाँच करनी चाहिये। जब हम भोजन को दवा समझकर खाते हैं, तब पाप का बन्ध कम होता है और आत्मकल्याण अधिक होता है। शरीर को साधन समझकर हम

उसे भोजन देकर सुसज्जित रखते हैं, ताकि हम उसे बिना अवरोध आत्मसाधना के कार्य में लगा सकें।

यह समझना बहुत ही महत्वपूर्ण है कि धन, अनाज, सोना, चाँदी, आभूषण आदि का मिलना और टिकना पुण्यकर्म पर निर्भर है। इसलिये ऐसी वस्तुओं के लिये जितनी सामान्य सावधानी आवश्यक है, उतनी अवश्य लेनी चाहिये, लेकिन व्यक्ति को उसके लिये तीव्र चिन्ता, ग़लत संकल्प–विकल्प या ऐसे कार्य करने से बचना चाहिये।

प्रायः अज्ञानी जीव सदैव हिंसादि में तत्पर होता है। वह निर्दय होता है, परलोक को न माननेवाला होता है, कर्मफल की चिन्ता नहीं करता, पश्चात्ताप से रहित होता है और हिंसादि करके प्रसन्न भी होता है। ये सभी लक्षण रौद्रध्यान के सूचक हैं। इसलिये हमें इन सबसे बचना चाहिये।

रौद्रध्यान पाँचवें गुणस्थान तक हो सकता है। इसे पहचानने के लिये सूक्ष्मदृष्टि की आवश्यकता है। इसलिये सभी साधकों को इसके प्रति सावधान रहना आवश्यक है, क्योंकि रौद्रध्यान का परिणाम अत्यन्त दुःखदायक होता है।

हम अनन्तकाल से सुख की भीख माँगते भटकते रहे हैं और उसके बदले हमें मिला है अनन्तकाल का दुःख इसलिये जिसे यह बात समझ में आ गयी कि सुख तो अपने आत्मा में है, बाहर नहीं, वह जीव अपने आत्मा की खोज में लग जायेगा। आत्मा तो सुख की खान है, सुख का अक्षय भण्डार है। इसलिये हमारा सभी से अनुरोध है कि आप सभी अपने भीतर सुख को खोजें और उसी में स्थिरता करें। आन्तरिक सुख निरन्तर भोगने योग्य है, उसका कभी अन्त नहीं होता। अनादि से हमारे भीतर आर्तध्यान और रौद्रध्यान के संस्कार दृढ़ हो चुके हैं। इसलिये

ही हम इस दुःखमय संसार में अनादिकाल से भटक रहे हैं। अब हमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान से मुक्ति पाने के मार्गों के बारे में विचार करना होगा, ताकि हम इस दुःखमय संसार से मुक्ति पा सकें।

लोग भगवान की भक्ति के फल में कुछ–न–कुछ इच्छा या माँग करते हैं। लेकिन सच्ची भक्ति किसी इच्छा या माँग के लिये नहीं, बल्कि अपने आत्मकल्याण के लिये ही होती है। इन्द्रिय विषयों की इच्छा संसार की जड़ को हरी–भरी रखती है, उसे सूखने नहीं देती। इसलिये हमें अत्यन्त अल्प भ्रमात्मक सुख के बदले अनन्तानन्तकाल तक अनन्त दुःख प्राप्त होते हैं।

यदि हम डर या लालच से धर्म का पालन रखते हों और हमारे साथ कुछ अनुचित या अप्रिय हो जाये, तो हमारी श्रद्धा डगमगा जाती है। लेकिन यदि हम धर्म, बिना किसी सांसारिक अपेक्षा के करते हों, तो हमारी श्रद्धा डगमगाती नहीं है। धर्म हमें सांसारिक इच्छाएँ न करने की शिक्षा देता है और हम धर्म ही सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के लिये करते हैं! हमसे बड़ा मूर्ख तो खोजने निकलें, तो भी न मिले!

जिन्हें इस संसार में ही सुख दिखायी देता है और इसलिये उससे मुक्त होने का भाव भी नहीं होता, वे सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के लिये योग्य बन ही नहीं सकते। इसलिये उनका अनन्तकाल तक संसार में भटकना निश्चित है। अनन्तकाल तक अनन्त दुःख भोगना निश्चित है। यदि हम संसार के स्वरूप का शास्त्रों के आधार पर और अपने रोज़मर्रा के अनुभव से विश्लेषण करें, तो हमें संसार से मुक्त होने का भाव आ सकता है। उसे ही वैराग्य कहा जाता है। उसे ही निर्वेद कहा जाता है। हमें मुक्ति (मोक्ष) के प्रति आकर्षण होता है, उसे ही संवेग कहा जाता है।

जिसे हम सुख कहते–मानते हैं, वह वास्तव में सुखाभास ही है। लेकिन वह सुख भी हमें सिर्फ़ त्रसकाय में ही मिल सकता है, जिसका काल मात्र दो हज़ार सागरोपम का ही होता है। उसके बाद नियम से हमें एकेन्द्रिय में जाना पड़ता है, जहाँ दुःख ही दुःख है। वहाँ हम असंख्यात पुद्गल –परावर्तनकाल तक रह सकते हैं। और एक पुद्गल –परावर्तनकाल के अनन्तवें भाग में भी बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम के अनन्त कालचक्र होते हैं। इस गणना से समझ में आता है कि संसार में एक पल के सुख के सामने अनन्तकाल का दुःख कैसे मिलता है।

हमारे मनुष्यभव का आयुष्य हमारे आत्मा के भविष्य के अनन्तकालीन भ्रमण की तुलना में बिजली की एक चमक जितना भी नहीं है। और यदि अँधेरी रात में बिजली की चमक में सुई में धागा पिरोना हो, तो कितनी जागरूकता रखनी पड़ती है – यह विचार करना चाहिये। ऐसी ही जागरूकता यदि हम इस जन्म में अपने आत्मा को पतन से बचाने के लिये रखें, तो हमारा अनन्तकाल शोभायमान बन सकता है, सुखमय बन सकता है।

संसार के सभी सुख, जैसे माता–पिता, धन–धान्य, सन्तान, पत्नी–पति, घर–बार, हीरा–आभूषण, मित्र, उद्योग–व्यवसाय आदि – ये सभी संयोग पुण्य और पाप से ही निर्धारित होते हैं। यदि पुण्य प्रचुर हो तो सब कुछ अनुकूल मिलता है और यदि पाप प्रचुर हो तो सब कुछ प्रतिकूल मिलता है। यदि दोनों कम–अधिक हों तो कुछ अनुकूलता और कुछ प्रतिकूलता मिलती है। इसलिये अपनी प्रतिकूलता के लिये दूसरों को दोष न देकर उसे अपने ही पूर्व के पापों का फल मानना चाहिये और धन्यवाद! स्वागतम्!' (Thank you! Welcome!) का भाव करना चाहिये, जिससे हम नये पापों से बच जायेँ।

जो जीव पर को अपना मानकर दूसरों के प्रति अहंकारमय व्यवहार करता है, वह दूसरों के सद्गुणों का प्रमोद नहीं कर सकता, बल्कि उनके दुर्गुण ही खोजता रहता है। जिन्हें सत्यधर्म में आगे बढ़ना है, उन्हें इसके विपरीत दूसरों के सद्गुणों का प्रमोद करना चाहिये, न कि ईर्ष्या या क्रोध करना, और दूसरों के दुर्गुण देखकर अपने भीतर जाँच करनी चाहिये कि ऐसे दुर्गुण मुझमें तो नहीं हैं? यदि हों, तो उन्हें दूर करने की साधना आरम्भ करनी चाहिये।

धनवान लोगों में एक प्रतिस्पर्धा लगी हुई है कि कौन अपने पीछे कितना बड़ा धन का भण्डार छोड़कर जाता है। क्योंकि जीवनभर आराम से जीने के लिये ही नहीं, बल्कि आजीवन भोग–विलास में जीने के लिये भी पर्याप्त धन होने पर भी जब कोई व्यक्ति अधिक–से–अधिक धन संग्रह करने में पूरा ज़ोर लगाता है, तो यह निश्चित है कि वह अपने पीछे अपनी पूरी शक्ति से कमाए हुए धन–दौलत का भण्डार छोड़कर जायेगा, लेकिन उस भण्डार को इकट्ठा करने में उसने जो पाप किये हैं, वे तो वह आगे के भवों में अपने साथ ही लेकर जायेगा। जब किसी को सत्यधर्म की समझ आने लगती है, तब नियम से उसके जीवन में इन्द्रियविषयों के पीछे की दौड़ धीमी पड़ने लगती है। क्योंकि उसे समझ में आने लगता है कि इन्द्रियविषयों के आकर्षणपूर्वक भोग आग में लकड़ी या घी डालने का काम करते हैं, जिससे आग बुझने के बजाय और अधिक प्रज्वलित होती है। दूसरा, जब जीव इन्द्रियविषयों के आकर्षणपूर्वक भोग करता है, तब उसके संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और उन भोगों को बार–बार भोगने के भाव भी होते रहते हैं।

कई लोग कहते हैं कि यहाँ हम अपने शरीर के कारण अनेक सुख भोग सकते हैं, जबकि मोक्ष में तो शरीर का ही अभाव है, तो हम मोक्ष

में सुखों का अनुभव कैसे कर सकेंगे? ऐसे लोगों को यह जानकारी होनी चाहिये कि एक–से–एक बढ़िया शारीरिक सुख भोगने के लिये शरीर भी एक–से–एक बढ़िया होना चाहिये। जैसे हम मनुष्य जन्म में जो सुख भोगते हैं, उससे अनेक गुना अधिक सुख देव–भव में वैक्रिय शरीर द्वारा भोग सकते हैं। देव–भव में भी ऊपरी देवलोकों के देव नीचे के देवलोकों की तुलना में अधिक–अधिक सुख भोगते हैं। और सम्यग्दर्शनधारी साधु एक वर्ष की दीक्षा–पर्याय के बाद सम्यक् चारित्र (आत्मा की बार–बार की अनुभूति) के कारण उन देवों से भी अधिक सुख भोगते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सुख आत्मा में है, न कि शरीर में। शरीर तो हमारे (आत्मा) के लिये बन्धन है और मोक्ष में इस बन्धन का ही विच्छेद हो जाने से सादि–अनन्तकाल के लिये अनन्त सुख प्राप्त होता है।

मोक्षसुख को समझने के लिये ऐसा उदाहरण भी लिया जा सकता है कि अनेक लोग पैसों के लिये व्यवसाय, धन्धा या दूसरों की सेवा–चाकरी करते दिखाई देते हैं; इस प्रकार वे लोग कड़ी मेहनत करके पैसा कमाकर संसार के सुख भोगते हैं। यदि उनसे कहा जाये कि तुम्हें कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है, प्रतिदिन टकसाल से जितने चाहिये उतने पैसे अपनेआप आ जायेंगे, तो वे बहुत ख़ुश हो जायेंगे और संसार के सुखों में मग्न रहेंगे। इसी प्रकार, अभी हमें बहुत कम सुख के लिये बहुत अधिक मेहनत करनी पड़ती है, जबकि मोक्ष में बिना किसी मेहनत के हर समय अनन्त सुख मिलता है। इस प्रकार मोक्ष अनन्त सुख की खान है, टकसाल है।

कुछ उपदेशक विषयासक्ति का अन्त करने के लिये भोग भोगने की सलाह देते हैं, लेकिन उन्हें यह जानना चाहिये कि विषयसेवन से उसकी माँग घटती नहीं, बल्कि बढ़ती है; विषयसेवन के संस्कार दृढ़

होते हैं। उन्हें यह विचार करना चाहिये कि अनादि से हमने अनन्त बार विषयों का सेवन किया है, फिर भी विषयासक्ति का अन्त क्यों नहीं हुआ? इसलिये विषयासक्ति का अन्त करने का मार्ग विषयसेवन नहीं, बल्कि विषयविरक्ति है। विषयसेवन से विरक्ति प्राप्त करने के लिये हमें बारह भावनाओं का चिन्तन–मनन करते रहना चाहिये। और अपनी अनादि की दुःखभरी कथा को भी नहीं भूलना चाहिये। विषयसेवन के (दुःख आदि) कड़वे फलों पर भी विचार करना चाहिये। विषयसेवन के कड़वे फल अर्थात् विषयसेवन से पहले उसे प्राप्त करने की व्याकुलता का दुःख, विषयसेवन के समय थकान का दुःख, और भविष्य में विषयसेवन की इच्छा तथा विषयसेवन से बँधे पाप के फलस्वरूप दुःख की प्राप्ति। इस प्रकार विषयसेवन के कड़वे फलों पर विचार करके हम विषयसेवन की इच्छा से मुक्त हो सकते हैं। सबसे पहले हमें विषयसेवन की इच्छा से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिये, उसके बाद कालक्रम से विषयसेवन से मुक्ति अवश्य मिलेगी। क्योंकि यदि किसी जीव की विषयसेवन की इच्छा ही समाप्त हो जाये, तो वह जीव जहाँ तक सम्भव हो, विषयसेवन के कीचड़ से बचने का प्रयास अवश्य करेगा।

आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) सदैव हमारे विचारों के केन्द्र में रहनी चाहिये। प्रायः हमारे विचारों के केन्द्र में हमारी सुखसुविधा ही होती है। यह अनादि अज्ञान का ही परिणाम है कि हम अनादि से यह बात नहीं जानते कि आत्मप्राप्ति को केन्द्र में रखकर किये गये शुभभाव हमें सहज ही सुखसुविधा प्रदान करते हैं। प्रत्येक जीव सुख की खोज करता है। वह विषयकषाय में लिप्त रहकर सुख प्राप्त करने का प्रयास करता रहता है। वह कभी–कभी पुण्य के कारण भौतिक सुख प्राप्त भी कर लेता है। लेकिन वह भौतिक सुख से कभी संतुष्ट नहीं होता। इसलिये उसे सुख के लिये

बार–बार उन विषयों को भोगने का भाव होता है। क्या हमने कभी विचार किया है कि उन विषयों में सुख है ही नहीं? वास्तव में सुख तो हमारे आत्मा का गुण है। यदि सुख किसी वस्तु या विषय में होता, तो वह सभी को समान रूप से मिलता। लेकिन हम देखते हैं कि कभी–कभी कोई वस्तु एक व्यक्ति को सुख देती है और दूसरे को दुःख इससे सिद्ध होता है कि सुख किसी वस्तु या विषय में नहीं है, बल्कि सुख तो अपनी आत्मा में ही स्थित है।

अनादि से जीव के एक ओर गहरी खाई है और दूसरी ओर मोक्षमहल है। एक ओर खाई की ओर ढलान होने के कारण अनादि से जीव इस संसाररूपी खाई में फँसकर अनन्त दुःख भोग रहा है। अब जीव को यह सुनिश्चित करना है कि उसे क्या चाहिये? एक ओर अनन्त दुःख है और दूसरी ओर अनन्त सुख है। जीव अनादि से सुख तो चाहता है, लेकिन पुरुषार्थ संसार के लिये ही करता रहता है, इसलिये उसे अनन्त दुःख ही मिलता है। उन अनन्त दुःखों से मुक्त होने के लिये पहले उसे संसार का सत्य स्वरूप समझना चाहिये और अपने बहिरात्मभाव को दूर करके वैराग्यपूर्वक आत्मसन्मुखता प्राप्त करके आत्मानुभूति करनी चाहिये।

अनादि से जीव सुख को बाहर खोजता है, लेकिन जीव का सुख जीव के बाहर कैसे हो सकता है? जैसे कस्तूरीमृग कस्तूरी को बाहर खोजता है, वैसे ही जीव भी अपने भीतर स्थित सुख को बाहर खोजता है। जैसे कुत्ता हड्डी चबाता है, तब उसके तालु में हड्डी चुभने के कारण निकले अपने ही रक्त को हड्डी से निकला हुआ रक्त मानता है, वैसे ही जीव भी अनादि से भीतर के सुख को बाहर से मिलनेवाला सुख मानता है और विषयों के पीछे दौड़कर अपने अनन्तकाल को दुःखमय

बना देता है। यही हमारी अनादि की कथा है।

भगवान ने कहा है कि इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं। इसलिये ही अनादि से हमने अनेक बार रागद्वेष को मन्द करके नवमी ग्रैवेयक तक भी पहुँचे हैं, लेकिन इच्छारूपी संसार का मूल सुरक्षित रहने के कारण आत्मप्राप्ति करके मोक्ष प्राप्त नहीं किया। अनादि से जीव काम–भोग की लालसा में ही उसके पीछे दौड़ता रहा है। और अनेक बार तो पुण्य के अभाव के कारण उसे काम–भोग मिले भी नहीं। फिर भी वह जीव काम–भोग की लालसा के कारण अनन्त दुर्गति को प्राप्त हुआ है। अनन्तकाल तक अनन्त दुःखमय निगोद में समय बिताया है।

अनादि से जीव क्रोध–मान–माया–लोभ में ही उलझा हुआ है। क्रोध के कारण उस जीव के कई भव तक के वैर बँधते हैं। मान के कारण उसे नीच गति प्राप्त होती है। माया के कारण उसकी सद्गति रुक जाती है अर्थात् धर्म की प्राप्ति रुक जाती है। और लोभ के कारण उस जीव को हर जगह लाभहानि होने का, अर्थात् धन ख़र्च हो जाने का डर बना रहता है।

वर्तमान का मनुष्यभव कितना कीमती है, यह समझाने के लिये भगवान ने कहा है कि जैसे वृक्ष के पत्ते समय आने पर पीले पड़कर झड़ जाते हैं, वैसे ही हमारा आयुष्य भी समय आने पर पूरा हो जाता है। इसलिये मुमुक्षु को इस जीवन में सिर्फ़ आत्मप्राप्ति के पुरुषार्थ को ही प्राथमिकता देनी चाहिये, शीघ्र ही आत्मप्राप्ति करनी चाहिये।

वर्तमान का मनुष्यभव कितना कीमती है, यह समझाने के लिये भगवान ने कहा है कि जैसे घास की नोक पर पड़ी ओस की बून्द बहुत कम समय के लिये ही ठहरती है और वह कब गिर जायेगी, यह भी किसी को पता नहीं होता, वैसे ही हमारा आयुष्य भी कब पूरा हो

जायेगा, यह हमें पता नहीं होता। और वह देव और नारकी के आयुष्य की तुलना में अत्यन्त अल्प होने के कारण मुमुक्षु को इस जीवन में सिर्फ़ आत्मप्राप्ति के पुरुषार्थ को ही प्राथमिकता देनी चाहिये, शीघ्र ही आत्मप्राप्ति करनी चाहिये।

हम देखते हैं कि वृद्धावस्था में शरीर क्षीण होने लगता है, बाल सफ़ेद होकर झड़ने लगते हैं, गंजापन आने लगता है, शरीर की शक्ति कम होती जाती है, हिलनेडुलने में भी तकलीफ़ होने लगती है। इसलिये जब तक शक्ति है, तब तक मुमुक्षु जीवों को सिर्फ़ आत्मप्राप्ति के पुरुषार्थ को ही प्राथमिकता देनी चाहिये, शीघ्र ही आत्मप्राप्ति कर लेनी चाहिये। सरल और मन की शुद्धिवाले जीव को आत्मप्राप्ति सहजता से होती है। जैसे घीयुक्त लकड़ी तुरन्त आग पकड़ लेती है, वैसे ही सरल और शुद्ध मनवाला जीव धर्मतत्त्व को तुरन्त पकड़ लेता है। ऐसे जीव मनशुद्धि से आत्मशुद्धि का मार्ग शीघ्र ही प्राप्त कर लेते हैं।

अनादि की मोहनिद्रा में सोए हुए जीवों को तो सत्यधर्म ही शत्रु जैसा लगता है। उन्हें लगता है कि हमारा मौजमज़ा सूख जायेगा। वे मृगतृष्णा जैसी संसार का भ्रान्त मौजमज़े को ही सच्चा सुख मानते हैं। इसलिये उन्हें भविष्य के अनन्त दुःखों से भगवान भी नहीं बचा सकते। यही हमारी अनादि की कथा है।

अनादि की मोह–निद्रा में सोए हुए जीवों को सत्यधर्म का उपदेश अमंगलकारी, अर्थहीन, झूठा, डराने के लिये की गयी कपोलकल्पित बातों जैसा लगता है। इसलिये ऐसे जीव प्रायः सत्यधर्म के उपदेश और उपदेशक–दोनों से ही दूर रहते हैं। इसलिये उन्हें भविष्य के अनन्त दुःखों से भगवान भी नहीं बचा सकते। यही हमारी अनादि की कथा है।

अनादि से हम निगोद में ही थे और यदि मोक्ष नहीं मिला तो भविष्य भी निगोद ही है। इसलिये निगोद को जीव का निवास–स्थान भी कहा जा सकता है, क्योंकि जीव का अधिकांश समय निगोद में ही व्यतीत होता है। वह अधिक से अधिक सिर्फ़ २००० सागरोपम तक ही त्रस पर्याय में रह सकता है। उसके बाद नियम से एकेन्द्रिय में जाता है। एकेन्द्रिय की काय–स्थिति (रहने का काल) असंख्यात पुद्गल परावर्तनकाल है।

आत्मप्राप्ति में जीव को अहंकार बाधक रूप है। इसलिये प्रत्येक जीव को अपने अनन्त भूतकाल का विचार करना चाहिये कि मैं अनादि से निगोदिया ही था और अभी भी यदि मोक्ष न हुआ तो निगोद निश्चित ही है। तो अहंकार किस बात का करना? क्योंकि हम कभी भी भगवान से पूछें कि अनादि से मैं कहाँ था, तो भगवान का एक ही उत्तर होता है कि अनादि से अब तक तुमने ९९.९९९% समय निगोद में ही बिताया है।

अधिकांश लोगों की यही मान्यता है कि विषयसेवन से सुख मिलता है। लेकिन वास्तव में विषयसेवन से तो उसकी बार–बार की माँग प्रबल बनती है, जिससे आकुलतारूपी दुःख होता है। इसे हम सुख कैसे कह सकते हैं?

अनेक लोगों की यह मान्यता होती है कि क्रोध करने से ही लोग काम ठीक से करते हैं। लेकिन वास्तव में वे हमारा काम हमारे पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही करते हैं। उलटे क्रोध करने से हमारी वर्तमान मनोदशा बिगड़ती है और पाप–कर्मों का बन्ध होने से हमारा भविष्य भी बिगड़ता है।

किसी भी प्रकार के डर का कारण भयमोहनीय कर्म होता है। जब

हम किसी जीव को दुःख देते हैं, डरातेधमकाते हैं या मारते हैं, तब वह भयमोहनीय कर्म अधिक मात्रा में बँधता है। इसलिये जो भयमुक्त होना चाहते हैं, उन्हें ऐसा बिल्कुल नहीं करना चाहिये। जीव को शरीर में एकत्वबुद्धि (मिथ्यात्व) के कारण डर अधिक लगता है, क्योंकि ऐसे जीव शरीर के नाश को अपना नाश समझते हैं। इसलिये जो भय–मुक्त होना चाहते हैं, उन्हें आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) प्राप्त करके मिथ्यात्व को दूर करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

अनेक लोग भगवान की प्रेमलक्षणा भक्ति करते हुए दिखाई देते हैं। लेकिन सच्ची प्रेम–लक्षणा भक्ति सर्व जीवों के प्रति प्रेम रखना सिखाती है, क्योंकि भगवानस्वरूप आत्मा सभी जीवों में समान रूप से विद्यमान है। यही मैत्रीभावना है। प्रेमलक्षणा भक्ति भगवान पर दृढ़ श्रद्धा के रूप में परिवर्तित होकर आज्ञा भक्ति का रूप लेनी चाहिये जिससे वह जीव आगे वैराग्यादि योग्यता पाकर आत्मसन्मुख होकर आत्मानुभूति रूप से अभेदभक्ति पाता है। यदि प्रेमलक्षणा भक्ति का यह फल न आये तो वह निष्फल कहलाती है।

हमें अपनी सफलता और सुख के मापदण्ड बदलने होंगे। जिसे हम सफलता और सुख मानते हैं, वह तो सिर्फ़ एक भ्रान्ति (सुखाभास) ही है। सच्चा सुख आत्मा में स्थित शाश्वत आनन्द है। वह अव्याबाध शाश्वत सुख का स्रोत आत्मा ही है, और उसे प्राप्त करने का मार्ग भी आत्मप्राप्ति और आत्मस्थिरता ही है। फिर भी हम उस शाश्वत सुख को बाहर खोजते हुए भवभ्रमण कर रहे हैं। हमसे बड़ा मूर्ख खोजने जायें तो भी न मिले!

फल पर लक्ष्य मत रखो; फल हमारे हाथ में नहीं है, इसलिये फल के प्रति उदासीन रहो। समस्याएँ समय के साथ कर्म भोगकर अपनेआप

हल हो जायेंगी, क्योंकि कर्म अपना फल देकर झड़ जाते हैं। आत्मा का लक्ष्य रखो – उसी में हमारा आत्महित समाहित है। जहाँ कर्म की सत्ता है, वहाँ हमारा कुछ भी नहीं चलता। आत्मार्थी बनना हमारे हाथ में है। निष्कर्ष यह है कि धर्म करो, सब कुछ अच्छा हो जायेगा।

सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के लिये सांसारिक जीवन का त्याग आवश्यक नहीं है, बल्कि अपने मन में बसे संसार को समाप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। अर्थात् मन के संसार का नाश अत्यन्त आवश्यक है।

वर्तमान में सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के विषय में कई ग़लतफहमियाँ प्रचलित हैं – जैसे आत्मज्ञानी संसार में नहीं रहते (साधु बन जाते हैं), उनमें रागद्वेष बिल्कुल नहीं होते, वे धनप्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते, वे पूर्ण ब्रह्मचारी होते हैं, वे विवाह नहीं करते, आदि। इसका कारण यह है कि लोग आत्मज्ञानी को चौथे या पाँचवें गुणस्थानवाला न समझकर उन्हें छठे गुणस्थानवाला ही मान लेते हैं।

कोई भी जीव गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर सकता है। आत्मज्ञान प्राप्त करने के बाद भी वे गृहस्थ जीवन में रह सकते हैं, क्योंकि उनका मन का संसार (भावसंसार) समाप्त हो गया है, न कि द्रव्यसंसार (बाह्यसंसार)।

सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के लिये पहले हमें अपनी इच्छाओं को बारह भावनाओं के चिन्तनमनन से कमज़ोर करना आवश्यक है। न कि संसार छोड़ना आवश्यक है, जिसे हम भूतकाल में अनन्त बार कर चुके हैं, फिर भी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त नहीं हुआ।

आत्मज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) अपने जीवननिर्वाह के लिये उचित अर्थोपार्जन कर सकते हैं, उससे उनका आत्मज्ञान नष्ट नहीं हो जाता।

उन्हें पता होता है कि वे अर्थोपार्जन सिर्फ़ अपने कर्तव्यपालन के लिये ही कर रहे हैं। फिर भी वे उसे करने योग्य कदापि नहीं मानते, अर्थात् उनके अभिप्राय में तो सब कुछ त्याज्य ही होता है। और जब उनका मनोबल दृढ़ हो जाता है, उस दिन वे धन, संसार आदि सब कुछ त्याग देते हैं।

आत्मज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) अपनी दुर्बलता के कारण विवाह भी कर सकते हैं, उससे उनका आत्मज्ञान नष्ट नहीं होता। उन्हें पता होता है कि वे विवाह सिर्फ़ अपनी दुर्बलता के कारण ही कर रहे हैं। वे उसे करने योग्य कदापि नहीं मानते, अर्थात् उनके अभिप्राय में तो सब कुछ त्याज्य ही होता है। और जब उनका मनोबल दृढ़ हो जाता है, उस दिन वे धन, संसार आदि सब कुछ त्याग देते हैं।

लोग ऐसा मानते हैं कि सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करने के लिये संसार छोड़ना पड़ता है, इसलिये वे धर्म से दूर ही भागते हैं। यदि उनके परिवार का कोई व्यक्ति भी धर्म करे तो वे उससे कहते हैं कि यह सब (धर्मक्रिया) हमारे लिये नहीं है, हम तो संसारी हैं। हमें साधु नहीं बनना है। वास्तव में जीव गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त कर सकता है।

अनेक लोग मोक्ष के लक्ष्य के बिना धर्मक्रियाएँ करते हैं, लेकिन उन्हें यह पता नहीं होता कि मोक्ष के लक्ष्य के बिना हम जो भी धर्मक्रियाएँ करते हैं, उनका फल (दुःखमय) संसार ही होता है। जब हम मोक्ष के लक्ष्य सहित कोई भी धर्मक्रिया करते हैं, तब हम धीरे–धीरे सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के निकट पहुँचते हैं। और वही सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) सत्यधर्म का प्रवेशद्वार है।

अनादि से हमने मोक्ष के लक्ष्य के बिना ही अनन्त बार धर्मक्रियाएँ

की हैं, इसलिये ही आज तक हमारा आत्मकल्याण नहीं हुआ, इसलिये ही हम संसार में भटक रहे हैं। अब हमें सिर्फ़ मोक्ष के लक्ष्य से ही सभी धर्मक्रियाएँ करनी चाहिये। जो लोग सांसारिक इच्छापूर्ति के लिये धर्मक्रियाएँ करते हैं, उनका आत्मकल्याण होना सम्भव ही नहीं है। उलटे वे पापानुबन्धी पुण्य बाँधकर अधिक दुःखी होते हैं। इसलिये हमें सिर्फ़ मोक्ष के लक्ष्य से ही सभी धर्मक्रियाएँ करनी चाहिये।

जब तक जीव को संसार का मोह है, तब तक आत्मा को शरीररूपी पिंजरे से मुक्त करानेवाला मार्ग नहीं मिलता। इसलिये पहले संसार से मोहित जीवों को बारह भावना और चार भावना का अभ्यास करके संसार के प्रति मोह कम करना चाहिये। इस संसार की असारता (दुःखदायकता) पर चिन्तन करने से संसार का मोह कम होता है। इसके लिये धर्मकथानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग का भी अध्ययन और उपयोग (आचरण) करना चाहिये।

आत्मलक्ष्य से किया गया पुण्य कभी भी मोक्षमार्ग में बाधक नहीं बनता। इसलिये सिर्फ़ आत्मलक्ष्य से किये गये पुण्य में ही रहना चाहिये, न कि पाप-पुण्य को समान समझकर पाप में रमना चाहिये। आत्मलक्ष्य से किया गया पुण्य कभी भी मोक्षमार्ग में बाधक नहीं बनता। बल्कि उसके कारण सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का योग मिलता है और तत्त्वचिन्तन के लिये अनुकूलता भी प्राप्त होती है।

जब हम सिर्फ़ आत्मलक्ष्य से ही धर्म करते हैं, तब हमारे उस धर्म का (लौकिक और आध्यात्मिक) उत्कृष्ट फल मिलना निश्चित हो जाता है। धर्म को हमेशा परीक्षा करके ही स्वीकार करना चाहिये। जैसे हम छोटी से छोटी वस्तु भी जाँच-परख कर ही खरीदते हैं, तो धर्म को बिना परीक्षा किये सिर्फ़ देखादेखी (अन्धानुकरण से) क्यों ग्रहण करें?

धर्म में कुछ लोग ‘करना मतलब मरना’ ऐसा समझते हैं, लेकिन वे संसार में तो अनेक प्रयत्न करते हुए अवश्य दिखाई देते हैं। वास्तव में धर्म में ‘करना मतलब मरना’ सिर्फ़ और सिर्फ़ शुद्धोपयोगवालों की अपेक्षा से कहा गया है। यदि हम ग़लत समझ से उसे सभी के लिये मान लेंगे, तो हमारा भविष्य अन्धकारमय होना निश्चित है।

जब तक हम शुद्धोपयोग की प्राप्ति नहीं कर लेते, तब तक हमारे लिये शुद्धोपयोग के लक्ष्य से धर्म की सभी उचित क्रियाएँ करना आवश्यक है। शुद्धोपयोग प्राप्त करने के बाद भी करना मतलब मरना’ शुद्धोपयोग में स्थिर होने के लिये कहा गया है, अन्यथा नहीं। क्योंकि करने का विकल्प शुद्धोपयोग में स्थिर होने से रोकता है, अर्थात् जीव को निर्विकल्प अवस्था की स्थिरता प्राप्त करने से रोकता है।

अनेक लोग अपने शरीर के सूक्ष्मकंपन आदि के ध्यान से अनित्यभावना दृढ़ करते हुए दिखाई देते हैं। तब साथ–साथ यह भी दृढ़ करना चाहिये कि संयोग अवश्य अनित्य है, लेकिन उसे देखनेवाला मैं (अर्थात् आत्मा) नित्य हूँ। मैं अनादि–अनन्त हूँ। ऐसा नित्यानित्यभाव दृढ़ न करने से हम एकान्तवादी रूप में परिणत होते हैं, अनित्यवादी रूप में परिणत होते हैं।

सच्चा (शुद्ध) धर्मध्यान आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के बाद ही होता है। लेकिन सभी लोगों को आत्मज्ञान के लक्ष्य से हमेशा धर्मध्यान में रहने का प्रयास करना चाहिये।

निर्विकल्प शुद्धोपयोग को अनेक लोग निर्विचार ध्यान (thoughtful thoughtlessness) ही समझते हैं, जो कि बहुत बड़ी ग़लतफ़हमी है। निर्विकल्प शुद्धोपयोग एक सेकण्ड के भी बहुत छोटे भाग जितने समय के लिये ही होता है, जबकि मैं निर्विचार हूँ ऐसे विचार को लोग भ्रम

से निर्विचार ध्यान समझ लेते हैं, वह भ्रम तो आर्तध्यान रूप ही है क्योंकि उसमें आत्महित केन्द्र में नहीं होता। ऐसा भ्रम तो अनेक मिनटों तक भी रह सकता है। निर्विकल्प शुद्धोपयोग में आत्मा अनुभव में आती है, जबकि निर्विचार ध्यान में मन की विचाररूप पर्याय ही अनुभव में आती है।

अनेक लोग ऐसा मानते हैं कि निर्विचार ध्यान (thoughtful thoughtlessness) करने से आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) की प्राप्ति होगी। लेकिन आत्मज्ञान के लिये वैराग्यपूर्वक तत्त्वनिर्णय और सिर्फ़ मोक्ष का लक्ष्य होना आवश्यक है, जिससे तत्त्वचिन्तन की अवस्था में अपनेआप निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है और अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

आत्मा का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। जब हम निर्विचार ध्यान (thoughtful thoughtlessness) करना चाहते हैं, तब हम आत्मा के जाननेदेखनेवाले स्वभाव का ही अस्वीकार करते हैं। इस प्रकार आत्मा के स्वभाव का अस्वीकार करके हम आत्मा को कैसे प्राप्त कर सकते हैं? कभी नहीं कर सकते।

आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) के लिये वैराग्यपूर्वक तत्त्वनिर्णय और सिर्फ़ मोक्ष का लक्ष्य होना आवश्यक है, जिससे तत्त्वचिन्तन अवस्था में मैं एक जानने–देखनेवाला हूँ' ऐसा चिन्तन करते हुए अपनेआप निर्विकल्प शुद्धोपयोग होता है और अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है।

अनेक लोगों को ध्यान में अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। जैसे दिव्य प्रकाश का अनुभव, रोमांचित होने का अनुभव, फूल जैसे हल्के हो जाने का अनुभव, घण्टनाद सुनने का अनुभव, अन्य कोई नाद सुनने का अनुभव, रोम–रोम पुलकित हो जाने का अनुभव, आदि। ये सभी अनुभव पौद्‌गलिक हैं परन्तु आत्मा पौद्‌गलिक नहीं है और उसका अनुभव

भी पौद्‌गलिक नहीं होता। इसलिये ऐसे अनुभवों को आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) मानना अयोग्य ठहरेगा। अनेक लोगों को भगवान के सामने प्रार्थना या पूजा करते समय आँसू आ जाते हैं। कुछ लोग इसे भी आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण मान लेते हैं, जो कि ठीक नहीं है। इससे भक्त की भक्ति और कोमलता अवश्य प्रकट होती है परन्तु इसे आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) का लक्षण मानना अयोग्य है। (दोनों के बीच अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है)।

ऐसा सोचना ग़लत है कि यदि मैं साक्षीभाव से अपने विकल्प–विचारों को देखता रहूँ (choiceless awareness से) तो मुझे आत्मज्ञान हो जायेगा। क्योंकि जब तक देखने का भी विकल्प है तब तक आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) नहीं होता। जब तक हमारे मन में सांसारिक माँग–इच्छा–अपेक्षा विद्यमान है तब तक साक्षीभाव से अपने विकल्प–विचारों को देखते (choiceless awareness में) रहने पर भी आत्मज्ञान प्राप्त नहीं होता। क्योंकि जीव को अन्तर्दृष्टि तभी प्राप्त हो सकती है जब उसे किसी भी सांसारिक माँग–इच्छा–अपेक्षा न हो। सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) और मोक्षमार्ग मिलने के बाद भी जब–जब हम शुद्धभाव में टिक नहीं सकते तब नियम से सच्चे देव–शास्त्र–गुरु–धर्म का अवलम्बन लेकर शुभभाव में ही रहना है, न कि अशुभभाव में। लोग उपयोग को (ज्ञान को) खाली करने के चक्कर में निर्विचार होने का प्रयास करते रहते हैं लेकिन जीवनभर आत्मानुभूति (सम्यग्दर्शन) प्राप्त नहीं कर पाते। क्योंकि आत्मानुभूति के लिये उपयोग को खाली करने की रीति यह है कि जब अपनी रुचि बाहर से हटकर अन्दर अर्थात् स्व में होती है तब अपनेआप उपयोग पर से खाली होकर स्व का अनुभव प्राप्त करता है। आत्मानुभूति प्राप्त होती है।

जब किसी जीव को यह आभास हो जाये कि सच्चा सुख तो मेरे आत्मा में ही है, तब उसकी मृगजल जैसे भ्रान्त सुख के पीछे की दौड़ रुक जाती है। वह दौड़ रुकने से भी उसे शान्ति का अनुभव अवश्य होता है, लेकिन उस शान्ति को आत्मज्ञान नहीं मान लेना चाहिये। जब किसी जीव की मृगजल जैसे भ्रान्त सुख के पीछे की दौड़ रुक जाती है तब उसे आत्मा के लक्षण ऐसे ज्ञान–दर्शन से अपने को पहचानना चाहिये। वह इस प्रकार कि मैं यह जाननेवाला ही हूँ। मैं ज्ञायक हूँ। इस प्रकार अपने सच्चे अस्तित्व का अनुभव करना चाहिये। किसी भी मत–पन्थ का हठाग्रह या दुराग्रह मोहग्रस्त जीव को ही होता है, यह हठाग्रह–दुराग्रह मोहग्रस्त जीव को अपने आत्मा के लिये आवश्यक ऐसी चार भावनाएँ (मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ) और धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) से हमेशा दूर ही रखता है। क्योंकि किसी एक मत–पन्थ का आग्रह उन्हें सहज रूप से ही दूसरे मत–पन्थ का विरोधी बना देता है। यही हमारी अनादि की कथा (वास्तविकता) है। जिन्हें किसी मत–पन्थ या व्यक्तिविशेष का (गुरु का) विरोध हो तो वे अपने आत्मा के लिये आवश्यक चार भावनाएँ (मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ) और धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) से सहज ही दूर हो जाते हैं। क्योंकि जिन्हें किसी एक जीव से भी विरोध या वैर है उन्हें अखण्ड मैत्री आदि भाव नहीं हो सकता। उससे वे अपना वर्तमान और अनन्त भविष्य दुःखमय बना सकते हैं। जिनका मोह मन्द हुआ है उन्हें सच्चा वही मेरा यह भावसहित सत्य की खोज होती है। वे अपने आत्मा के लिये आवश्यक चार भावनाएँ (मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थ) और 'धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!)' का लाभ ले सकते हैं। उन्हें इसका लाभ निश्चित लेना चाहिये। ऐसे जीव ही आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) प्राप्त करने के लिये योग्य होते हैं।

शरीर को हम मेरा कहते हैं। हाथ, पैर, नाक, कान आदि को मेरा कहते हैं। अर्थात् शरीर और सभी अंगों को हम यह मेरा है ऐसा कहते हैं। तब यह सोचना चाहिये कि यह सबको मेरा कहनेवाला कौन है? निश्चित ही वह इन सबसे अलग है। वह तो सिर्फ़ एक ज्ञायक (जाननेवाला) ही है, उसी में अहंभाव ('मैं'पन) करने योग्य है। वही हमारी सच्ची पहचान है, उसी का अनुभव करने योग्य है क्योंकि वही परमसत्य है। हम जो भी वस्तु खातेपीते हैं वह पुद्गल रूप ही होती है। उसमें से शरीर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करके बाकी वस्तुओं को मल, मूत्र, पसीना आदि रूप में बाहर निकाल देता है। वह अशुचि भी पुद्गल ही है। वह अशुचि जमीन में मिल जाती है और वह वृक्षों या पौधों के द्वारा हमें फल, फूल, अन्न, धान्य आदि रूप में मिलती है। हमारे द्वारा उपयोग करने से गन्दे बने हुए पानी का वाष्पीकरण होकर बादल बनते हैं और वे बादल बरसते हैं तब हमें वह पानी के पुद्गल बूँदों के रूप में प्राप्त होता है। उसी प्रकार हमने जिन पुद्गलों से शरीर बनाया है, उन्हें भी हमने अनेक बार ग्रहण करके छोड़ा है। इस प्रकार हम बार–बार ग्रहण किए और छोड़े हुए पुद्गलों को नए समझकर भोग रहे हैं। फिर भी मोहवश हमारे संसार का अन्त नहीं हुआ है, इसलिये मोह को मन्द करना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) मोक्षमार्ग का दरवाज़ा है। इसलिये जिन्हें मुक्त होना है उन्हें सबसे पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करना आवश्यक है, न कि दीक्षा की। अनेक लोग कहते हैं कि मोक्ष चाहिये तो दीक्षा तो लेनी ही पड़ेगी, दीक्षा लिये बिना आप मोक्ष नहीं जा सकते। इसलिये वे यह भी कहते हैं कि जो साधु बने वह महान है। ऐसे लोगों को यह समझना आवश्यक है कि जिन्हें सम्यग्दर्शन हुआ है उनके अभिप्राय

में दीक्षा तो होती ही है, परन्तु वे तब तक दीक्षा नहीं लेते जब तक उन्हें पक्का यक़ीन न हो जाये कि मैं दीक्षा लेकर पूर्ण रूप से पालन कर सकूँगा और मैं सच में छठे–सातवें गुणस्थानक का आनन्द ले सकूँगा। उनके लिये दीक्षा अपूर्व आनन्द का अवसर है, न कि किसी अन्य इच्छा या आशा या अपेक्षा का। हम अभ्यास के लिये या पाप से बचने के लिये अवश्य दीक्षा ले सकते हैं, लेकिन यदि हमारी ऐसी ही मान्यता रहे कि हमने दीक्षा ले ली है इसलिये अब हमारा कल्याण निश्चित ही है, तो हमें उस मान्यता को ठीक करने की आवश्यकता अवश्य है। अन्यथा ऐसी मान्यता हमें अनन्त संसार में भटका सकती है। ऐसी मान्यता के कारण हमारी पूरी शक्ति दीक्षाप्राप्ति पर ही केन्द्रित होगी, न कि सम्यग्दर्शनप्राप्ति पर जो मोक्षमार्ग का दरवाज़ा है। यही हमारी अनादि की कथा है, पर अब नहीं। अब ऐसी भूल कभी नहीं करूँगा।

तर्कसंगत बात यह है कि जब पापोदय के कारण हमारी मनमर्ज़ी के अनुसार कार्य नहीं होता हो तब पहले तो हमें अपने पुराने पापों की माफ़ि माँगनी चाहिये। दूसरा, हमें यह सोचना चाहिये कि अब भविष्य में मैं ऐसे पाप कभी नहीं करूँगा जिससे हमें फिर से ऐसे संयोग ही न मिलें। तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह करना है कि ऐसे संयोगों के लिये जो भी निमित्त बने हों उन्हें हमारे पाप धोने में सहायक मानकर, अपने मन में उनके प्रति उपकारभाव लाकर, उन्हें मन में ही धन्यवाद देना है जिससे हमें उनके प्रति चिढ़ या क्रोध न हो। इससे हमारे पुराने पाप धुल जायेंगे और नये पापकर्म बँधने से बच जायेंगे जिससे हमारा वर्तमान और भविष्य दोनों सुधर जायेंगे और आत्मप्राप्ति के पुरुषार्थ में हमारे भाव भी बाधक नहीं बनेंगे।

हम लौकिक में किसी भी वस्तु के सभी पहलुओं की जाँच करते

हैं और फिर ही निर्णय लेते हैं। उसी प्रकार धर्म में भी भगवान ने कहा है कि हमें धर्म की कसौटी करके ही उसे स्वीकार करना चाहिये, किसी के प्रभाव में आकर या भीड़ देखकर नहीं। वर्तमानकाल में लोग अधिकांशतः धर्म की परीक्षा नहीं करते बस वह देखते हैं कि उसके कितने अनुयायी हैं। जो धर्म या सम्प्रदाय जितना अनुकूल और उत्सवप्रधान होगा, उतने उसके अनुयायी अधिक होंगे। धर्म की परीक्षा करते समय नीचे दिए गये प्रश्नों का विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

क्या उस धर्म में हिंसा की कोई प्ररूपणा है?

क्या उस धर्म में विरोधाभासी बातों का उल्लेख है?

क्या उस धर्म का अनुसरण करने से कषाय मन्द होते हैं?

क्या वह धर्म आत्मा के उत्कर्ष की बात करता है?

क्या उस धर्म के संस्थापक को उसमें कोई व्यक्तिगत स्वार्थ है? इत्यादि।

वर्तमान में अनेक लोग, धर्म की परीक्षा किये बिना, उसकी बाहरी चमक से ही आकर्षित हो जाते हैं। इसलिये ही वे ठगे जाते हैं और अपने अनन्तकाल को दुःखमय बनाने की व्यवस्था भी कर लेते हैं। यही हमारी अनादि की कहानी है। जिस धर्म में आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) की बात न हो, उस धर्म से हमारा कल्याण कैसे हो? क्योंकि आत्मप्राप्ति ही धर्म का प्रवेशद्वार है, धर्मरूपी भवन की नींव है, धर्म में प्रवेश का वीज़ा है। किसी भी साधक के लिये आत्मप्राप्ति अत्यन्त महत्वपूर्ण है, उसी के द्वारा उन्हें आगे की साधना समझ में आती है।

सत्यधर्म की प्राप्ति अर्थात् आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) के साथ सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है और फिर चारित्र भी क्रमशः सम्यक् होता है। इसलिये ही कहा जाता है कि दर्शन–ज्ञान–चारित्र्य की एकता ही

मोक्षमार्ग है। यही सत्यधर्म की पहचान है। आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) को धर्म का प्रवेशद्वार कहा गया है। इसलिये हम आत्मप्राप्ति से पहले जो भी धर्म का पालन करते हैं उसे कहा तो धर्म ही जाता है, परन्तु यदि वह आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से रहित हो तो उसे धर्म कहना भी उचित नहीं है। यह समझ अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

यदि हम सिर्फ़ धर्मक्रियाओं या भोजन में भक्ष्य–अभक्ष्य के विवेक को ही धर्म मानते हों तो हमें सावधान हो जाना चाहिये क्योंकि यदि वह आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से रहित हो तो उसे धर्म कहना भी उचित नहीं है। यह समझ अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यदि हम सिर्फ़ धर्मक्रियाओं या भोजन में भक्ष्य–अभक्ष्य के विवेक को ही धर्म मानते हों तथा यदि वह आत्मप्राप्ति के लक्ष्य सहित हो तो उसे धर्म का गणवेश (uniform) अवश्य कहा जा सकता है। परन्तु यह समझना अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि सिर्फ़ यूनिफ़ॉर्म पहन लेने से ही कोई विद्यार्थी परीक्षा में पास नहीं हो जाता। अर्थात् आत्मप्राप्ति के बिना धर्म में प्रवेश ही नहीं किया जा सकता।

आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन) के लक्ष्य से किया गया व्यवहारधर्म तभी सफल होता है जब हम आत्मप्राप्ति करते हैं। उसके लिये कषायों की मन्दता, चार भावनाओं का चिन्तन, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का मनन–चिन्तन, बारह भावनाओं से सांसारिक इच्छाओं का शमन, संसार असार लगना, संसार से मुक्ति की इच्छा आदि होना अत्यन्त आवश्यक है। अनादि से हम विषयकषाय, रागद्वेष और इच्छाओं द्वारा प्रेरित जीवन जीते आये हैं। अनादि से हमारी इच्छाएँ ही हमारा इंजन हैं। वे हमें संसाररूपी कीचड़ में फँसा देती हैं। उसी के कारण अनादि से हमारे दुःखमय संसार का अन्त नहीं होता। अब हमें उससे

मुक्ति प्राप्त करने के मार्ग के विषय में विचार करना चाहिये जिससे हम इस दुःखमय संसार से मुक्त हो सकें। हमारा लक्ष्य कुछ समय के लिये विषय–कषाय–रागद्वेष को मन्द करना न होना चाहिये, बल्कि हमारा लक्ष्य यह होना चाहिये कि विषय–कषाय–रागद्वेष की मन्दता के परिणामस्वरूप हमें आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) हो। क्योंकि जिसे एक बार आत्मप्राप्ति हो जाती है उसका शीघ्र ही दुःखमय संसार से मुक्त होना निश्चित हो जाता है। हमें विषय–कषाय–राग–द्वेष को मन्द करने का पुरुषार्थ सिर्फ़ आत्मप्राप्ति (सम्यग्दर्शन की प्राप्ति) के लक्ष्य से ही करना चाहिये। क्योंकि अनादिकाल से अनेक बार हमने विषय–कषाय–राग–द्वेष को मन्द किया है और दीक्षा भी ली है, परन्तु आत्मप्राप्ति के अभाव में हमारे वे प्रयास हमें अनन्तकाल के दुःखों से बचा नहीं सके।

अनेक लोग ज्ञातादृष्टा रहने का ध्यान या अभ्यास करते हैं। वे नहीं जानते कि आत्मानुभूति के बिना मिथ्यादृष्टि को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होता है, इसलिये ही समयसार ग्रन्थ में अज्ञानी को कर्ता और ज्ञानी को अकर्ता बताया गया है। जब अज्ञानी पर्याय का कर्ता होता है, तो वह पर्याय का ज्ञातादृष्टा कैसे बन सकता है? कभी नहीं बन सकता। इसलिये अज्ञानी के लिये ज्ञातादृष्टा रहने का ध्यान या अभ्यास भ्रम में ले जानेवाला बनता है और वह अपने परिणाम का आध्यात्मिक मार्ग के अनुसार यथार्थ उपाय भी नहीं कर सकता, बल्कि वह सिर्फ़ मूढ़ ही बना रहता है।

आत्मा के अनुभव के बिना मिथ्यादृष्टि को सिर्फ़ पर्याय का ही अनुभव होता है, इसलिये वह पर्याय का कर्ता बनता है। और ज्ञानी सिर्फ़ शुद्धात्मा का ही अनुभव करता है, इसलिये ज्ञानी का मैंपन' भी उसी शुद्धात्मा में ही होता है और पर्याय का वह सिर्फ़ ज्ञातादृष्टा ही होता है, कर्ता

नहीं बनता। इस प्रकार ज्ञानी को स्वाभाविक रूप से ही ज्ञातादृष्टाभाव रहता है। इसलिये अज्ञानी को ज्ञातादृष्टा बनने का अभ्यास नहीं, बल्कि आत्मानुभूति के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिये जिससे वह आत्मसम्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त कर सके।

अनादि से मेरी भूल के कारण ही मैं संसार में भटक रहा हूँ। अनादि से मैंने कभी भी अपनी स्वतन्त्रता का उपयोग अपने आत्मा के उत्थान के लिये नहीं किया। इसलिये यह कहा जा सकता है कि मेरे संसार और मोक्ष के लिये मैं स्वयं ही उत्तरदायी हूँ। यह समझ आने के बाद अब सभी मुमुक्षुओं को आत्मा की वैराग्यादि योग्यता प्राप्त करके आत्मसम्मुख होकर आत्मानुभूति प्राप्त करने का ही पुरुषार्थ करना चाहिये।

समयसार ग्रन्थ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र बताते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में शुद्धात्मा की श्रद्धा, न जाने हुए गधे के सींग की श्रद्धा के समान होने से वह श्रद्धा सम्यक् श्रद्धा नहीं होती। अर्थात् वह श्रद्धा सिर्फ़ कल्पनामात्र ही होती है। इसलिये आत्मप्राप्ति नहीं होती, साध्य आत्मा की प्राप्ति नहीं होती। ऐसा होते हुए भी अनेक उपदेशक अज्ञानियों को भी मैं शुद्धात्मा हूँ ऐसा मानने को कहते हैं या जप करने को कहते हैं या धारणा करने को कहते हैं या निर्णय करने को कहते हैं। आत्मा की वैराग्यादि योग्यता के बिना और आत्मसम्मुखता प्राप्त किये बिना आत्मज्ञान नहीं होता क्योंकि तब तक जीव बहिरात्मा ही है और बहिरात्मा को आत्मानुभूति नहीं होती।

जब तक जीव को आत्मज्ञान न हो, तब तक उस जीव को शुद्धात्मा का अनुभवयुक्त ज्ञान नहीं होता, उसे सिर्फ़ शब्दात्मक ज्ञान ही होता है। हमने शुद्धात्मा का शब्दात्मक ज्ञान तो अनेक बार प्राप्त किया है, परन्तु यदि शुद्धात्मा का अनुभवयुक्त ज्ञान प्राप्त न करें तो हम मोक्षमार्ग

में प्रवेश नहीं कर सकते। शब्दात्मक ज्ञान से तो जीव अनेक बार ठगा जाता है, उसे लगता है कि उसने आत्मा को प्राप्त कर लिया है, परन्तु वास्तव में वह सिर्फ़ निश्चयाभासरूपी भ्रम में ही होता है।

जब तक जीव को बाहर कुछ भी मूल्यवान लगता है, तब तक उस जीव ने आत्मा का वास्तविक मूल्य समझा ही नहीं है। जब किसी भी जीव को सिर्फ़ आत्मा ही मूल्यवान प्रतीत हो और अन्य सभी बाह्यसंयोगों का मूल्य आत्मा के सामने न्यून प्रतीत हो, तब वह जीव आत्मसम्मुखता प्राप्त करता है, जो आत्मप्राप्ति के लिये परम आवश्यक है। अर्थात् जीव के लिये बाह्यसंयोगों के प्रति अपने मूल्यांकन के मापडण्डों को बदलना परम आवश्यक है।

जिसने एक को साध लिया उसने सब कुछ साध लिया, अर्थात् जिसने एक अपनी आत्मा को जाना–अनुभव किया, तो उसने इस जगत के सभी रहस्यों को जान लिया, क्योंकि जिसने आत्मानुभूति की, वह शीघ्र या विलम्ब से आत्मस्थिरता करके केवली बनेगा। उसे केवलज्ञान की प्राप्ति होगी, जिसमें कुछ भी छिपा नहीं रहता, क्योंकि केवलज्ञान में भूत–वर्तमान–भविष्य तीनों वर्तमान की भाँति प्रकाशित होते हैं। जिस जीव को आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहिये, अर्थात् जिसे कोई सांसारिक इच्छाएँ या आकांक्षाएँ शेष नहीं रहीं और जिसे सिर्फ़ आत्मप्राप्ति का ही पुरुषार्थ करने योग्य प्रतीत होता है, ऐसा जीव आत्मसम्मुखता प्राप्त करता है, जो आत्मप्राप्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

अनेक जीव ऐसे भी हैं जो आत्मप्राप्ति के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं को आवश्यक मानते ही नहीं। ऐसे जीव कहते हैं कि आत्मप्राप्ति के तो अनेक मार्ग ऐसे भी हैं जिनमें आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं या आत्मसम्मुखता की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जो जीव आत्मप्राप्ति

के लिये आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं को आवश्यक नहीं मानते और उसके अतिरिक्त किसी अन्य मार्ग से आत्मप्राप्ति का पुरुषार्थ करते हैं अथवा स्वयं को आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना भी आत्मप्राप्त मानते हैं, तो वह उनका सिर्फ़ भ्रम ही है – ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना जीव नियम से बहिरात्मा ही होता है और बहिरात्मभाव में आत्मानुभूति कभी होती ही नहीं। यदि किसी शास्त्र में ऐसा कहा गया हो कि आत्मप्राप्ति के अनेक मार्ग हैं, तो उसे सम्यक् रूप से इस प्रकार समझना चाहिये कि जो अनेक मार्ग कहे गये हैं, वे सभी आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं सहित ही हैं। कोई भी मार्ग ऐसा नहीं हो सकता जो आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना भी आत्मप्राप्ति करा दे। क्योंकि यह तीनों कालों में सम्भव नहीं है, और इसलिये ही शास्त्रों में स्थान–स्थान पर जीव को आत्मा की वैराग्यादि योग्यताएँ करानेवाले कथानक ही भरे हुए हैं। यह तो वर्तमान हुण्डा अवसर्पिणीकाल का ही प्रभाव है कि अनेक जीव आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं का पुरुषार्थ करने के स्थान पर या आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं का उपदेश देने के स्थान पर अन्य उपदेश देते हैं। और स्वयं भी मानते हैं कि आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना भी हमें आत्मज्ञान है या हमें आत्मज्ञान प्राप्त हो जायेगा।

मोहनिद्रा ऐसी है कि वह जीव को आत्मा का महत्व समझने ही नहीं देती। आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं का महत्व भी समझने नहीं देती। इसलिये ऐसी मोहनिद्रावश अनेक जीव आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना भी स्वयं को आत्मज्ञानी होने का दावा करते दिखाई देते हैं। मोहनिद्रा इतनी शक्तिशाली है कि वह जीव को आत्मज्ञान प्राप्त करने के योग्य संयोग प्राप्त होने पर भी मोह को पोषित करनेवाली कोई न कोई

ग़लतफ़हमी उत्पन्न करके उस जीव को असंख्यात पुद्‌गल परावर्तन तक एकेन्द्रिय में धकेल देती है। एक पुद्‌गल परावर्तन के अनन्तवें भाग में भी अनन्त कालचक्र होते हैं – ऐसे असंख्यात पुद्‌गल परावर्तन तक कोई एक जीव एकेन्द्रिय में रह सकता है। यह मोहनिद्रा का ही प्रभाव है कि दीक्षा ग्रहण करने पर भी कुछ जीवों को आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। ऐसे जीव भी मोहनिद्रावश आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना भी आत्मज्ञान हो सकता है – ऐसा प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं। मोहनिद्रा उन्हें यह भी समझने नहीं देती कि संसार में भी प्रत्येक कार्य के लिये योग्यता आवश्यक होती है, तो आध्यात्मिक उन्नति योग्यता के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है? कभी नहीं हो सकती।

मेरा अधिकार क्षेत्र (domain) सिर्फ़ सत्य पुरुषार्थ करना ही है। परिणाम की अपेक्षा नहीं रखनी चाहिये। क्योंकि उससे अनेक बार अधीरता, निराशा, हताशा ही उत्पन्न होती है। इसलिये उत्तम पुरुषार्थ करना हमारे हाथ की बात है, परन्तु उसका परिणाम हमारे हाथ में नहीं है – यह समझना आवश्यक है।

जैसे चने से भरे सँकरे मुखवाले पात्र में बन्दर हाथ डालकर चनों की मुट्ठी भर लेता है, फिर उसका हाथ बाहर नहीं निकल पाता। चनों से भरी मुट्ठी के कारण हाथ पात्र में फँस जाता है। अपने चनों के मोह के कारण वह मुट्ठी नहीं खोल पाता। उसी प्रकार मोहग्रस्त जीव अपना बहिरात्मभाव छोड़ नहीं पाता। बहिरात्मा जीव को संसार ही अच्छा लगता है। बाह्य भोगोपभोग का अत्यधिक आकर्षण होने से उसकी बुद्धि, समय, शक्ति आदि बाह्य में ही लगे रहते हैं। ऐसे जीव की भगवान ने संकरे मुखवाले पात्र में चनों की मुट्ठी भर लेने से जिसका हाथ फँस गया हो,

ऐसे बन्दर से तुलना की है। इसी लिये ऐसे जीव मोहनिद्रावश आत्मा की वैराग्यादि योग्यताओं के बिना भी आत्मज्ञान हो सकता है–ऐसा प्रतिपादन करते दिखाई देते हैं।

हमें जो भी अच्छा प्राप्त हुआ है वह भगवान का उपकार है, क्योंकि वह पूर्व के सत्कर्म का ही फल है, जो भगवान के प्रत्यक्ष या परोक्ष उपदेश के बिना सम्भव ही नहीं है। इसलिये साधक को मद से बचने के लिये स्वयं को प्राप्त प्रत्येक मान, सम्मान, पद, प्रतिष्ठा, सुख, सुविधा, अनुकूलता आदि के लिये भगवान को ही धन्यवाद देना चाहिये, और स्वयं को प्राप्त प्रतिकूलता, अपमान, दुःख आदि के लिये स्वयं को उत्तरदायी मानकर उसके कारणरूप अपने पूर्व के दुष्कृत्यों के लिये क्षमा माँगनी चाहिये, उसका प्रायश्चित्त करना चाहिये।

अनेक लोग प्रायः राजा को देखकर राजा बनने या धनाढ्य बनने का अवश्य विचार करते हैं। परन्तु भगवान को देखकर भगवान बनने का विचार करनेवाले बहुत ही कम लोग होते हैं। अधिकतर लोग तो भगवान को देखकर सांसारिक माँगें ही करने लगते हैं। वही ऐसे जीवों के लिये अनन्त संसार का कारण बनता है। जिन्हें धनवान, ऐश्वर्यवान, सत्ताधीश, वैभवशाली लोगों के प्रति आकर्षण होता है, वह आकर्षण ऐसे जीव को बाहर की और दौड़ाता है, जीव को बहिरात्मा बनाता है। यदि भगवान को देखकर सिर्फ़ भगवान बनने का लक्ष्य बँधता है, तो वह लक्ष्य जीव को भीतर ले जाता है, आत्मसम्मुखता कराता है, जो सबके लिये इस जीवन में करने योग्य है।

निश्चय सम्यग्दर्शन के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं है। परन्तु उसकी प्राप्ति का लक्ष्य भगवान पर की श्रद्धा के बिना बँधता ही नहीं है। क्योंकि भगवान पर श्रद्धा के बिना वह जीव स्वर्ग, नरक, मोक्ष, सिद्धों

का सुख, निगोद, संसार का दुःखमय स्वरूप आदि के प्रति श्रद्धा ही नहीं कर सकता। इसलिये ही भगवान के प्रति श्रद्धा को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

किसी साधक के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हो कि मुझे सम्यग्दर्शन कब होगा? या अब मेरे मोक्ष होने से पहले कितने भव शेष हैं? आदि। उन्हें हमारा निवेदन है कि आप चिन्ता किये बिना सिर्फ़ मोक्ष के लक्ष्य से चिन्तन करें और भरपूर पुरुषार्थ करें, इतना ही पर्याप्त है। क्योंकि चिन्ता करने से आर्तध्यान (पाप) होता है और वह मोक्षमार्ग भी नहीं है। यदि कोई भी जीव सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करना चाहता है, तो उसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों को घटाने का प्रयास करना चाहिये। क्योंकि जब तक अपना मन शान्त नहीं होता, तब तक वह जीव सत्य–असत्य का संतुलित रूप से परीक्षण नहीं कर सकता और सत्य को प्राप्त भी नहीं कर सकता।

आत्मा कभी मरती नहीं और इस शरीर को छोड़ देने से उसके कर्म भी समाप्त नहीं हो जाते। आत्मा अमर होने से यदि कोई जीव अपने जीवन का अन्त करके ऐसा समझे कि मैंने अप्रिय परिस्थितियों और कर्मों से मुक्ति पा ली है, तो वह जीव अनजाने में स्वयं को ठग रहा है। क्योंकि वे अप्रिय कर्म उस जीव को अगले भवों में भी भोगने ही पड़ते हैं। उस जीव को ऐसे संयोग बार–बार मिल ही जाते हैं और ऐसे जीव में बार–बार अकाल में ही अपने जीवन का अन्त कर देने के गहरे संस्कार भी पड़ जाते हैं। जब किसी को ऐसा लगे कि मेरे साथ अन्याय हो रहा है या मुझसे ये परिस्थितियाँ सहन नहीं हो रहीं, तो उसे अपने से निम्न स्तर के जीवों की ओर देखना चाहिये। ऐसे निम्न स्तर के जीवों को देखकर उसे ज्ञात होगा कि ओह! मैं तो इनसे बहुत

सुखी हूँ, उनकी तुलना में मेरा दुःख तो कुछ भी नहीं है, आदि। इस प्रकार जीव निराशा/हताशा (डिप्रेशन) से बच सकता है। जिन्हें वास्तव में दुःख से सदा के लिये छुटकारा चाहिये, उन्हें सिर्फ़ मोक्ष के लक्ष्य से इस असार (दुःखी) संसार के विषय में चिन्तन करना चाहिये।

शुभ और अशुभ आस्रव दोनों ही बन्धन होने से साधक के लिये दोनों ही त्याज्य हैं। परन्तु विवेकदृष्टि से देखते हुए जिन्हें दुःख पसन्द नहीं है, उन्हें सर्वप्रथम अशुभ का त्याग करना चाहिये और अनन्त सुख के लिये सिर्फ़ मोक्ष के लक्ष्य से शुभ में रहना चाहिये। जब इस जीवन में हमारा अनन्त भविष्यकाल निश्चित होनेवाला है, तब हम असावधान कैसे रह सकते हैं? अर्थात् सभी जनों को इस जीवन में सम्यग्दर्शन प्राप्त करके स्वयं को अनन्तकाल के दुःखों से बचाकर सादि अनन्तकाल के सुख की प्राप्ति करनी चाहिये। अपने कर्तव्यों का निर्वाह करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हमारी आत्मविशुद्धि बढ़ती रहे। अन्यथा हमें संसार में डूबने से कोई रोक नहीं सकेगा।

जब हम जीवहिंसा का आंशिक भी प्रत्याख्यान करते हैं, तब हम उन जीवों को अभय देते हैं। इसे अभयदान भी कहा जाता है, यह अभयदान उत्कृष्ट दान कहा जाता है। इससे हमारा भय सहज ही घटता है। जीवों को अभयदान देने से हमें अभय प्राप्त होता है। सर्वोत्तम अभय केवलज्ञान प्राप्त होने के बाद ही मिलता है। इसलिये हमें पूर्ण पुरुषार्थ सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) प्राप्त करके मुक्त होने के लिये ही करना चाहिये।

जल्दबाज़ी हमेशा कष्ट देती है। लोगों को आत्मानुभूति के लिये भी जल्दबाज़ी होती हैं, परन्तु उन्हें यह ज्ञात नहीं कि प्रत्येक कार्य का उचित कारण होता है। जो लोग उचित कारण देंगे, उन्हें आत्मानुभूति अपने आप ही प्राप्त होनेवाली है। अर्थात् आत्मानुभूति जल्दबाज़ी से नहीं,

बल्कि उचित कारण देने से प्राप्त होती है। जल्दबाज़ी से तो आर्तध्यान अर्थात् पाप का बन्ध होता है। लोगों को लगता है कि धर्ममार्ग पर चलना बहुत कठिन है, परन्तु जब यह समझ में आ जाता है कि धर्ममार्ग के अतिरिक्त अन्य कोई भी मार्ग स्वयं को अनन्त दुःख देनेवाला ही है, तब वही धर्ममार्ग पर चलना सहज और सरल बन जाता है। सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) ख़ुशामद से प्राप्त नहीं हो सकता। हाँ, गुरु के विनय से अवश्य प्राप्त हो सकता है। गुरु का सच्चा विनय उनकी ख़ुशामद नहीं, बल्कि उनके बताये मार्ग का अनुसरण करने की तत्परता है।

हम चाहते हैं कि सब कुछ हमारी इच्छा के अनुसार हो, यही इच्छा हमारे लिये दुःख का कारण बनती है। क्योंकि पुण्योदय से हमारी इच्छा के अनुसार हो भी गया तो हमारा कर्तृत्वभाव या अहंकार बढ़ता है, जो भविष्य में हमारे आत्मा के लिये (स्वयं के लिये) दुःख का कारण बनने में सक्षम है। और यदि पापोदय से हमारी इच्छा के विपरीत हो, तो वह भी हमारे वर्तमान और भविष्य दोनों को बिगाड़ने में सक्षम है। हम अपनी इच्छा के अनुसार सभी को परिणमित करना चाहते हैं, यही हमारी सबसे बड़ी ग़लतफ़हमी है। क्योंकि प्रत्येक का परिणमन अपने–अपने कर्मों और पुरुषार्थ के अनुसार होता है, न कि हमारी इच्छा के अनुसार।

'मैं और कर्म' के बीच का सम्बन्ध समझना अत्यन्त आवश्यक है। 'मैं' अर्थात् आत्मा और 'कर्म' अर्थात् अपने भूतकाल के भाव। कर्म पुद्गल है, परन्तु वह हमारे ही भूतकाल के भावों को प्रतिबिम्बित करता है, इसलिये वे कर्म भी महत्वपूर्ण हैं। अनादि से हमें अपने कर्मों के अनुसार ही संयोग–वियोग प्राप्त होते आये हैं–ऐसा समझकर अपनी प्रतिक्रिया को सम्यक् बनाना चाहिये। हम दूसरों को दोष देना बन्द करेंगे और स्वयं को दोषी के रूप में देखना प्रारम्भ करेंगे, अर्थात् हम अपने

भूतकाल के भावों (कर्मों) को दोषी मानकर भूतकाल में ऐसे भाव करने के लिये क्षमा माँगेंगे और ऐसी भूल फिर से न करने का निश्चय करेंगे, जिससे हमारे जीवन में ऐसा दुःख पुनः न आये। तभी हम आर्तध्यान से बच सकेंगे, जब हम दुःख देनेवाले को अपने कर्मों की निर्जरा के लिये उपकारी मानेंगे।

हमारी अनादि की वासनाएँ हमें (आध्यात्मिक) साधना के मार्ग से विचलित करने में सक्षम होती हैं, इसलिये हमें साधना के मार्ग पर चलते समय सदा जागरूक रहना चाहिये, सावधान रहना चाहिये। अधिकांश लोग पुण्योदय में अहंकारी बन जाते हैं और पापोदय में खिन्न रहते हैं, क्योंकि वे उसे अपने पुरुषार्थ का ही फल मानते हैं। वास्तव में पाप–पुण्य का उदय हमारे पूर्वकृत कर्मों का फल है। इसलिये हमारा अधिकार पुरुषार्थ करने में है, उसके फल पर नहीं। क्योंकि उसका फल हमारे पूर्वकृत कर्मों के अनुसार होता है, न कि हमारी इच्छा के अनुसार।

जब हम थोड़ी देर किसी भी प्रकार की ध्यान मुद्रा में बैठकर शान्ति अनुभव करते हैं, तब हमें यह जाँचना चाहिये कि ध्यान से बाहर आने के बाद भी क्या हमारी मानसिक शान्ति बनी रहती है? क्या हमारे क्रोध, मान, माया, लोभ कम होते हैं? क्या हमारी इच्छाएँ कम होती हैं? यदि ऐसा नहीं होता, तो हम स्वयं को ठगते हैं।

भगवान ने हमें मोक्ष का राजमार्ग बताया है। इसलिये भगवान का हम पर अनन्त उपकार है। वर्तमान में उस राजमार्ग के विषय में अनेक मत–मतान्तर दिखाई देते हैं। ऐसे इस काल में भी जब कोई ज्ञानी हमें उस सच्चे राजमार्ग की पहचान कराता है, तब उस ज्ञानी का भी हम पर अनन्त उपकार होता है। जब कोई ज्ञानी हमें भगवान द्वारा बताये गये सच्चे राजमार्ग का परिचय कराता है, तब यदि हमारे हृदय में किसी

मत, पन्थ, सम्प्रदाय या व्यक्ति के प्रति आग्रह या हठाग्रह हो, तो हम उस सच्चे राजमार्ग को अपना नहीं सकते। अनादि से हमारे साथ ऐसा ही होता आया है, इसलिये हम अभी तक संसार में भटक रहे हैं। अब आगे क्या करना है? यह हमें विचार करना चाहिये और सच्चे राजमार्ग की खोज करके उस मार्ग पर चलना चाहिये। भगवान द्वारा बताये गये सच्चे राजमार्ग को प्राप्त करने के लिये हमें योग्यता विकसित करना आवश्यक है। उसके लिये सन्तोष, सरलता, सादगी, सहिष्णुता, सहनशीलता, नम्रता, लघुता, विवेक जैसे गुणों का जीवन में होना अत्यन्त आवश्यक है।

जब हम शास्त्रों का अध्ययन करके ज्ञान प्राप्त करते हैं, तब उसके साथ–साथ उस ज्ञान को अपने दैनिक जीवन के आचरण में लाने का विवेक भी अत्यन्त आवश्यक है। कुछ बुरा होने की आशंका से भयभीत रहकर हम अपना बुरा होने से पहले ही दुःखी रहना शुरू कर देते हैं। परन्तु जब हमारे पाप का उदय होता है, तब हम अपना बुरा होने को रोक भी नहीं सकते। इसलिये उस समय भयभीत न होकर सत्यधर्म पर चलना आरम्भ कर देना ही समझदारी है, जिससे हम अपने पापों को हल्का कर सकें। जब हम अपने आत्मा की उन्नति के लिये स्वार्थी (स्व अर्थात् आत्मा के अर्थी) बन जाते हैं, तब हम निश्चित ही धीरे–धीरे जगत के प्रति निस्पृह होते जाते हैं। इसलिये हमारा कल्याण निश्चित होता जाता है।

हमें जगत की दुष्टता के साथ का सम्बन्ध तोड़ना है, न कि दुष्टों को दुष्ट समझना है। अन्ततः उनमें भी भगवान आत्मा विराजमान है। इसलिये उनके प्रति करुणाभाव और माध्यस्थभाव ही रखना है। भगवान के कहे अनुसार हमारे विचार, वाणी और व्यवहार होने चाहिये। यदि

ऐसा न हो, तो हमें उसे भगवान के कहे अनुसार ढालने का प्रयास करते रहना चाहिये। सामान्यतः सिर्फ़ मोक्ष के लक्ष्य से साधक पहले अशुभ भावों का त्याग करता है। फिर भविष्य में जब वह शुद्धभाव में स्थित होता है, तब शुद्धभाव के लक्ष्य से होनेवाले शुभभाव भी अपने आप ही छूट जाते हैं। जिन्हें शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई है और यदि वे शुभभाव का त्याग करके अशुभभाव में रहते हैं, तो उनका भविष्य निश्चित ही अन्धकारमय है। जब तक शुद्धभाव में स्थिरता नहीं हो जाती, तब तक सिर्फ़ शुद्धभाव के लक्ष्य से अशुभभाव का त्याग करके शुभभाव में रहना कर्तव्य है। सत्यधर्म का सार पहले शुद्धभाव की प्राप्ति और उसके बाद शुद्धभाव में स्थिरता ही है।

लोग सहनशीलता बढ़ाने का प्रयास करते हैं, परन्तु वह भी कुछ सीमा तक ही बढ़ती है। फिर भी वह बोझ प्रतीत होती है। परन्तु जो जीव धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) समझ लेता है, उस जीव की सहनशीलता अपने आप ही बढ़ती जाती है। वह सहज होती है, इसलिये बोझ भी प्रतीत नहीं होती। हमने अनादि से ऐसी मानसिकता बना रखी है कि क्रोध किये बिना हमारा काम नहीं होगा या हमारी बात नहीं सुनी जाएगी। हमें इस मानसिकता से बाहर निकलने का पुरुषार्थ करना चाहिये। यदि हमारी ऐसी मानसिकता है कि क्रोध किये बिना हमारा काम नहीं होगा या हमारी बात नहीं सुनी जायेगी, तो हमारा संसार में अनन्तकाल तक अनन्त दुःख भोगना निश्चित है। यदि हमारी ऐसी मानसिकता है कि क्रोध किये बिना हमारा काम नहीं होगा या हमारी बात नहीं सुनी जाएगी, तो हम सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) के लिये योग्य बनने से वंचित रह जाते हैं।

शास्त्रों में स्वाध्याय को कर्मों की निर्जरा के लिये अभ्यन्तर तप

के रूप में बताया गया है। अधिकांश लोग धर्मग्रन्थों के पढ़ने (पठन–पाठन) को स्वाध्याय मानते हैं। परन्तु स्वाध्याय का वास्तविक अर्थ है धर्मग्रन्थों को दर्पण मानकर अपने आत्मा का अनुभव करते हुए धर्मग्रन्थों में बताये गये गुणों को ग्रहण करना और अपने दोषों से मुक्त होना। ऐसा स्वाध्याय वास्तविक निर्जरा का कारण बनता है। शास्त्रों में ध्यान को कर्मों की निर्जरा हेतु अभ्यन्तर तप के रूप में बताया गया है। अधिकांश लोग ध्यान का अर्थ आसन लगाकर स्थिर बैठकर अपने श्वास या बिन्दु या स्फटिक जैसे किसी भी आलम्बन पर ध्यान लगाना समझते हैं और करते भी हैं। परन्तु ध्यान का वास्तविक अर्थ यह है कि सोते–जागते, चलते या बैठते किसी भी मुद्रा में आत्मा को केन्द्र में रखकर और आत्मप्राप्ति के लिये मैत्री आदि चार भावना, अनित्य आदि बारह भावना, धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!), धर्मध्यान आदि का चिन्तन करना। सम्यग्दृष्टि जीव को अपने आत्मा का अनुभव लेते रहना और बीच–बीच में ऊपर बताये गये चिन्तन करना चाहिये। ऐसा ध्यान वास्तविक निर्जरा का कारण बनता है। जब कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करके दूसरों को सम्यग्दर्शन के लिये प्रेरित करता है, सहायता करता है, तब वह सम्यग्दृष्टि जीव दूसरों पर अनन्त उपकार करता है। क्योंकि स्वात्मानुभूति रूप सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद वह दूसरा जीव भी निश्चित ही अल्पकाल में सिद्धत्व को प्राप्त कर लेगा, जो पूरे ब्रह्माण्ड की सबसे महान सिद्धि है।

अब हम धर्मध्यान के विषय में थोड़ा समझेंगे।

धर्मध्यान:

जैसे हम चलते समय या कोई भी वाहन चलाते समय बीच में भटक न जायें, दुर्घटना न हो जाये, गड्ढे में न गिर जायें, पत्थर से

ठोकर न लग जाये आदि के लिये ध्यान रखते हैं, उसी प्रकार भगवान ने इस संसार में आत्मा का अधःपतन न हो जाये, दुःख देनेवाले कर्म न बन्ध जायें, अनजाने में बुरे कर्म न बन्ध जायें, आत्मा के अनन्त परावर्तन न बढ़ जायें, आत्मा अनन्त दुःखमय संसार में न फँस जाये, क्रोध–मान–माया–लोभ के विषचक्र में न फँस जाये, पर में मोहासक्त न हो जाये, भगवान की आज्ञा का उल्लंघन न हो जाये आदि के लिये आत्मा का ध्यान रखना–यही धर्मध्यान है।

शुद्ध धर्मध्यान जीव को सम्यग्दर्शन होने के बाद ही होता है। शुद्ध धर्मध्यान से गुणश्रेणीवाली निर्जरा होती है। इसलिये हमारा सम्पूर्ण जीवन सम्यग्दर्शन (आत्मज्ञान) की प्राप्ति के लिये समर्पित करना योग्य है।

प्रश्न: संसार का अन्त क्यों करना चाहिये?

उत्तर: जब तक हम इस संसार में हैं, तब तक हम अनन्त दुःखों से बच नहीं सकते और हमें अन्तहीन सुख प्राप्त नहीं हो सकता। यदि हमें अनन्त दुःखों से बचना है और अन्तहीन (अनन्त) सुख चाहिये, तो उसके लिये हमें अपने अनादि दुःखमय संसार का अन्त करना आवश्यक है। उसका पहला चरण है शुद्धात्मा की अनुभूति अर्थात् सम्यग्दर्शन।

धर्मध्यान के मुख्यतः चार प्रकार हैं:

१. आज्ञाविचय: आज्ञाविचय धर्मध्यान अर्थात प्रत्येक कार्य करते समय भगवान की आज्ञा का विचार करना कि हम भगवान की आज्ञा के अनुसार कार्य कर रहे हैं या आज्ञा के विरुद्ध कार्य कर रहे हैं। धर्मध्यान के अन्तर्गत जीव भगवान की आज्ञा आदि का विचार करे, जैसे कि – हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म, परिग्रह आदि का त्याग, समकित अर्थात आत्मज्ञान (सम्यग्दर्शन) प्राप्त करके मुक्त होने की आज्ञा, जिनाज्ञा–

जिनसिद्धान्तों की सूक्ष्मता का चिन्तन, सत्यधर्म के स्वरूप का चिन्तन, जिनसिद्धान्तों के त्रिकाल सत्य होने का चिन्तन, उसकी जगतहितकारिता का चिन्तन, उसकी सार्थकता का चिन्तन, उनके अमूल्य होने का चिन्तन, गुणश्रेणीवाली निर्जरा का कारण बनने की उसकी क्षमता का चिन्तन, उसके अमर बनानेवाले अमृतत्व का चिन्तन, जिनसिद्धान्तों के अकाट्य होने का चिन्तन, उसके पूर्वापरविरोधरहित होने का चिन्तन, उसके नय–निक्षेपयुक्त होने का चिन्तन, उसमें दर्शाये गये व्यवहार–निश्चय की प्ररूपणा की यथार्थ समझ का चिन्तन, आदि का एकाग्रता से चिन्तन–मनन–ध्यान। अपने अनादि के निवासस्थान ऐसे निगोद का विचार, मनुष्यजन्म की दस दुर्लभताओं का विचार जैसे कि – मनुष्यजन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तमकुल, दीर्घ आयुष्य, पूर्ण इन्द्रियाँ, निरोगी शरीर, सत्यधर्म की प्राप्ति, सत्यधर्म पर श्रद्धा आना, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति, मुनिपन आदि। ऐसे विचार करके अपना एक भी समय व्यर्थ न गँवाते हुए अपने समय–शक्ति–संसाधन आदि सभी का उपयोग आत्मा के उत्थान के लिये ही करना। जैसे हम संसार में एक भी रुपया ग़लत जगह निवेश (invest) नहीं करते, वैसे ही हमें अपनी एक भी मिनट का उपयोग आत्मा के विरुद्ध कार्यों में नहीं करना, आत्मा को अनन्त दुःखरूप संसार देनेवाले कार्यों में नहीं करना।

धर्मध्यान के चार मुख्य आलम्बन हैं:

- **वाचना** – जिनवाणी का वाचन करना, उस पर अपने भावों के सन्दर्भ में विचार करना अर्थात उसे दर्पण मानकर अपने भाव जाँचना और उसे मोक्षमार्ग के अनुकूल बनाना।
- **पृच्छना** – जिनवाणी पढ़कर न समझ में आये तो उसकी समझ के लिये योग्य गुरु से प्रश्न पूछकर समाधान प्राप्त करना।

- **परावर्तन –** पढ़े हुए को पुनः दोहराना, प्रतिदिन अपने भाव जाँचकर उन्हें भगवान की आज्ञा के अनुसार करने का पुरुषार्थ करना।
- **धर्मकथा –** पूर्व में हुए तीर्थंकर आदि महापुरुषों के चरित्र पढ़कर अपनी वृत्तियाँ सुधारना तथा अपनी वृत्तियाँ मोक्षमार्ग के अनुकूल बनें ऐसी अन्य धर्मकथाओं का वाचन–चिन्तन–मनन करना। धर्मध्यान का फल है मनुष्य या देवगति।

२. अपायविचय: साधक को धर्मध्यान के अन्तर्गत अपायविचय धर्मध्यान का उपयोग नहीं करने योग्य कार्यों से पीछे हटने के लिये करना है। साधक को नहीं करने योग्य कार्यों के परिणाम का विचार करके अर्थात ऐसे कार्य करने से भविष्य में आत्मा का जो अहित हो सकता है उसका विचार करके ऐसे कार्यों से रुकना है। उसके विचार करना, जैसे कि – प्रत्येक जीव सुख चाहता है, फिर भी अनादि से दुःख में ही फँसा हुआ है – उसका विचार करना, अनेक उपाय करने पर भी सुख क्यों नहीं मिलता? उसका विचार करना। मेरा वास्तविक शत्रु तो मैं स्वयं ही हूँ अर्थात दर्शनमोहनीय कर्म के कारण मेरा अज्ञान (मिथ्यात्व) है जो वास्तविक शत्रु है और जो क्रोध–मान–माया–लोभ के कारण बलवान बनता है। हमारे किस कार्य का क्या फल आयेगा और वह भविष्य में कैसा दुःख देगा उसका विश्लेषण करना। मिथ्यात्व, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, तीव्र रागद्वेष, तीव्र पक्षपात, तीव्र कषाय, चार संज्ञाओं की तीव्रता (चार संज्ञाएँ – आहार, मैथुन, परिग्रह और डर), सप्त महाव्यसन (चोरी, जुआ, दारू, मांसभक्षण, शिकार, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन या परपुरुषगमन), हठाग्रह, कदाग्रह, दुराग्रह आदि के परिणामस्वरूप इस लोक और परलोक में कैसे दुःख–अनर्थ उत्पन्न हो सकते हैं – उसका एकाग्रतापूर्वक चिन्तन–

मनन–ध्यान। भगवान ने भवाभिनन्दी जीव के आठ दुर्गुण बताये हैं: क्षुद्रता, लाभरति, दीनता, मात्सर्य, भय, शठता, अज्ञान और निष्फलारम्भ प्रयत्न। अपने भावों को जाँचकर यदि हममें इनमें से कोई भी दुर्गुण हो तो उसे पहचानकर बारह भावना आदि से उसका उपचार करना क्योंकि वे दुर्गुण हमें अनन्तकाल तक अनन्त दुःखमय संसार में भटकाने में सक्षम हैं।

जितना हम इस जीवन में लोगों को भयभीत करेंगे या अपने अधिकार और सत्ता का दुरुपयोग करके उन्हें डराकर रखेंगे, उतना ही हमारा अनन्तकाल तक भयभीत रहने का निश्चित होता जाता है। यही हमारी अनादि की कथा (वास्तविकता) है। अब कब तक यह चलाना है? थोड़ा रुककर विचार करें, उसी में हमारा कल्याण छिपा हुआ है। यदि इस जीवन में लोगों को भयभीत रखकर या अपने अधिकार और सत्ता का दुरुपयोग करके उन्हें डरा हुआ रखकर हम अनन्तकाल तक भयभीत नहीं रहना चाहते तो हमें लोगों के साथ चार भावनाओं के अनुसार व्यवहारयुक्त अपना जीवन बनाना चाहिये। हमें लोगों के प्रति मैत्री, प्रमोद, करुणा और मध्यस्थभाव रखना चाहिये क्योंकि उसी में हमारा कल्याण छिपा हुआ है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन को ठीक प्रकार से जाँचना चाहिये कि उसे सुख चाहिये या दुःख? यदि उत्तर में ऐसा ज्ञात हो कि मुझे तो सुख ही चाहिये तो उस व्यक्ति को सभी प्रकार के पापों से बचना चाहिये। विशेषकर सप्त महाव्यसन (जुआ, दारू, मांसभक्षण, वेश्यागमन, चोरी, शिकार, परस्त्री या परपुरुष गमन), रात्रिभोजन, कन्दमूलभक्षण, अभक्ष्यभक्षण से (आचार, पापड़, मध, मक्खन, चीज आदि के सेवन से) दूर ही रहना आवश्यक है। और मोक्ष के लक्ष्य से सबसे बड़ा पाप ऐसे मिथ्यात्व के नाश का प्रयत्न करते–करते आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से

शुभभाव में रहना भी आवश्यक है जिससे हमें भविष्य में मोक्षमार्ग की साधना के लिये अनुकूलता मिलती रहे। जैसे हम संसार में आय बढ़ाने का प्रयास करते हैं और ख़र्च घटाने का प्रयास करते हैं वैसे मोक्षमार्ग की साधना के लिये अनुकूलता मिलती रहे इसके लिये आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से पुण्य बढ़ाना है और पाप घटाना है। पाप और पुण्य को धर्म न समझें, परन्तु पाप से दुःख आता है जो किसी भी जीव को पसन्द नहीं। इसलिये पाप से बचना है। सभी जीवों को हमारी तरह ही अपना जीव प्रिय होता है, इसलिये किसी भी जीव की हिंसा से यथाशक्ति बचना है।

हमारी सांसारिक इच्छाएँ ही अनादि से हमारा इंजन हैं जो हमें अनन्त दुःखमय संसार देती हैं। इसलिये उससे होनेवाले नुक़सान का विचार करना और सांसारिक इच्छाओं के नाश के लिये अनित्य आदि बारह भावनाओं का चिन्तन करना।

३. विपाकविचय: साधक को धर्मध्यान के अन्तर्गत विपाकविचय धर्मध्यान का उपयोग विभिन्न प्रकार के कर्मों के कारण जीव को भोगने पड़नेवाले उनके फलों का विचार करके ऐसे कर्मों से बचने के लिये करना है। इसलिये साधक को मोक्षमार्ग में बाधा करनेवाले कर्म न बाँधने तथा सत्ता में स्थित ऐसे कर्मों को आत्मलक्ष्य से पश्चाताप, प्रायश्चित, निन्दा, गर्हा आदि से क्षीण करने का पुरुषार्थ करना चाहिये।

प्रत्येक कर्म क्या फल देता है? उसका विचार करना और उससे बचने का उपाय करना। जगत की विचित्रता का कारण कर्मों की विचित्रता है – उसका विचार करना और दुःखों से बचने का उपाय करना। हम जिस इन्द्रिय का जितना अधिक दुरुपयोग करते हैं उतनी वह इन्द्रिय

दुर्लभ होती जाती है। शुभाशुभ कर्मों की आठ प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश के फलों का आत्मा के हित–अहित की दृष्टि से चिन्तन–मनन–ध्यान करना और उनसे बचने के उपायों का चिन्तन करना, उन उपायों का आचरण करना। कर्मबन्ध के समय कैसा रसबन्ध होगा, शुद्ध धर्मध्यान करने से रसबन्ध में कितनी वृद्धि–क्षति होगी, उदय के समय कैसा रसोदय होगा, स्पर्श–बद्ध–निद्धत–निकाचित बन्ध किस प्रकार का होगा, आदि पर चिन्तन–मनन–ध्यान करके आत्मप्राप्ति के लिये आवश्यक आत्मसम्मुखता का पुरुषार्थ करना। चारों गतियों के दुःखों का विचार करना और निश्चय करना कि अब हमें एक भी गति नहीं चाहिये – इसे ही भव रोगरूप लगना कहा जाता है। कर्मों के कारण हम संसार में देखते हैं कि पापकर्मों के उदय के कारण धनवान लोग भी रातोंरात सड़क पर आ जाते हैं या पुण्य कर्म के उदय के कारण रंक भी राजा बन जाता है, अनेक लोग आँखों से देख नहीं सकते, अनेक लोग कानों से सुन नहीं सकते, अनेक लोग बोल नहीं सकते, अनेक लोग जन्म से ही अपंग होते हैं। प्रत्येक जीव को अपने कर्म भोगने ही पड़ते हैं। इसलिये कर्म करने से पहले सचेत होना महत्वपूर्ण है और कर्मों के फल का विचार करके ऐसे कर्म करने से बचना है।

जब हम अपनी सफलता को अपनी होशियारी का फल मानते हैं तब नियम से अहंकार का भाव आता है। परन्तु जब हम अपनी सफलता को अपनी होशियारी और अपने भाग्य का अर्थात् अपने पुण्योदय का फल मानते हैं तब अहंकार से अवश्य बचा जा सकता है। सांसारिक होशियारी ख़राब नहीं है, परन्तु उसका अहंकार होना आत्मप्राप्ति के लिये बाधक है। यदि हमारे पुण्य का उदय न हो अर्थात् पाप का उदय हो

तो हमारी होशियारी किसी काम नहीं आती। वह हमें सफलता दिला नहीं सकती। होशियारी वह सच्ची है जो आत्मकल्याण में लगे।

हमें अपनी जाँच (checking) अपने मन–वचन–काया के परिणामों की जाँच करके करनी है, न कि दूसरों के हमारे लिये अभिप्राय सुनकर। साथ–साथ हमें अपनी वाणी और व्यवहार सुधारने के प्रयास भी जारी रखने हैं। लोग अपनी वाणी और व्यवहार दिखावे (दम्भ) के लिये तो अच्छा रखने का प्रयास करते हैं। परन्तु अपने मन को सुधारने का संकल्प कभी नहीं करते क्योंकि वही उनका अभिप्राय भी होता है। सच्चे सुख की प्राप्ति के लिये सबसे पहले मनःशुद्धि आवश्यक है। इसलिये सभी जनों को मनःशुद्धि करनी ही चाहिये। मनःशुद्धि प्राप्त होते ही वाणी और व्यवहार अपने आप ही धीरे–धीरे शुद्ध होने लगते हैं।

४. संस्थानविचय: साधक को धर्मध्यान के अन्तर्गत संस्थानविचय धर्मध्यान का उपयोग करके लोक का स्वरूप जानकर इस लोक के प्रत्येक प्रदेश में स्वयं ने अनन्त बार जन्म–मरण किये हैं, अनन्त दुःख सहन किये हैं – ऐसा चिन्तन–मनन करना चाहिये। ऐसे चिन्तन–मनन से साधक को संसार के प्रति निर्वेद और मोक्षमार्ग के प्रति संवेग उत्पन्न करना चाहिये।

लोक का विचार करके समझना कि लोक की तुलना में हमारी पृथ्वी कुछ भी नहीं है तो उसमें हमारा बंगला, फ़ार्महाऊस या गाँव की तो कोई बिसात ही नहीं है। इसलिये उसका अहंकार करने योग्य नहीं है। लोक में स्थित पदार्थों का विचार, ऊर्ध्वलोक में किस प्रकार जन्म हो, अधोलोक में किस प्रकार जन्म न हो, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक, भावलोक आदि का विचार करना। छह द्रव्यों के नाम, कार्य, लक्षण, जीव–अजीव के प्रकार, पुद्गल वर्गणा–स्कन्ध–प्रदेश–परमाणु, आकाश की

अवगाहन शक्ति, संसार का दुःखमय स्वरूप, संसारी जीव–मुक्त जीव, मुक्ति का स्वरूप समझना। लोक में विद्यमान अनन्त सिद्धों (मुक्तात्माओं) को भावपूर्वक वन्दन करना, लोक में स्थित अरिहंत भगवान–केवली भगवान–साधुओं को भावपूर्वक वन्दन करना। लोक तीन वलयों से घिरा हुआ है, उसमें भूमि, नरकवास, देव भवन, देव विमान, चल और अचल ज्योतिष विमान (ग्रह, नक्षत्र, तारे) आदि हैं। उन सभी स्थानों में हमने अनन्त बार जन्म–मरण किये हैं – उसका चिन्तन–मनन–ध्यान करना और अब कहीं भी जन्म–मरण न करना पड़े उसका उपाय करना। ऊर्ध्वलोक में रहनेवाले देवों के पूर्वभव के सुकृत्य की अनुमोदना करना कि जिसके कारण उन्हें देवगति प्राप्त हुई है, उसी प्रकार अधोलोक में रहनेवाले नारकियों के पूर्वभव के दुष्कृत्य की आलोचना धन्यवाद! स्वागतम्! (Thank you! Welcome!) का उपयोग करके करना, जिससे यदि हमारे किसी भव के ऐसे कर्म सत्ता में पड़े हों तो वे निर्बल पड़ें और ऐसे दुष्कृत्य कभी भी न करने के संस्कार दृढ़ हों।

शुक्लध्यान: शुक्लध्यान के चार पायें हैं: पृथक्त्व वितर्क (विचार), एकत्व वितर्क (विचार), सूक्ष्मक्रिया अप्रतिपाति और समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति। पहले दो पायों का उपयोग उपशम या क्षपक श्रेणी चढ़ते समय होता है और अन्तिम दो पायों का उपयोग केवलज्ञानी महात्मा मोक्ष प्राप्त करने से पहले के अन्तर्मुहूर्त में करते हैं। शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं: क्षमा, निर्लोभता (मुक्ति), सरलता (आर्जव) और नम्रता (मार्दव = लघुता)। शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं: (१) अपायानुप्रेक्षा – दुःख से छूटने का विचार अर्थात मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपी आस्रवों से छूटने का विचार। (२) अशुभानुप्रेक्षा – अशुभ से निवृत्त होने का विचार अर्थात निरन्तर शुद्धभाव में रहने का पुरुषार्थ

उनके लिये अब शुभभाव भी अशुभ की भाँति त्याज्य हो जाता है। (३) अनन्तवृत्त्यानुप्रेक्षा – अनन्त प्रवृत्तियों से छूटने का विचार अर्थात अब अनन्त पुद्गल परावर्तन रूप अनन्त भवभ्रमण नहीं करना है – ऐसा विचार। और (४) विपरिमाणुप्रेक्षा – विपरीत परिणामों से छूटने का विचार अर्थात अब एक भी क्षण के लिये प्रमाद नहीं करना है – ऐसा विचार तथा सम्पूर्ण विश्व जीव और पुद्गलों से भरा हुआ है और उनके ही विविध पर्याय होते हैं, अब मुझे उनसे छूट जाना है – ऐसा विचार।

इस प्रकार हमें आर्तध्यान और रौद्रध्यान से बचकर आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से धर्मध्यान करना है। अर्थात हमें अपने आत्मा का ध्यान रखना है कि उसका पतन न हो और हम उसकी प्रगति के प्रयासों में लगे रहें।

यदि हमारे द्वारा भगवान की आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो मिच्छामि दुक्कडं! उत्तम क्षमा!

नियमसार टीका – श्लोक १२३

आत्मध्यान के अतिरिक्त अन्य सब कुछ घोर संसार का मूल है और ध्यान–ध्येयादिक सुतप (अर्थात् ध्यान–ध्येय आदि के विकल्प वाले शुभ तप भी) केवल कल्पनामात्र रम्य हैं – ऐसा जानकर धीमान (ज्ञानी) सहज परमानंदरूपी पीयूष के पुर में डूबते (लीन होते) ऐसे सहज परमात्मा एक का आश्रय करता है।

अर्थात् प्रत्येक साधक को एकमात्र शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिये वैराग्यादि योग्यताओं सहित इच्छाओं से विरत होकर आत्मसन्मुख होने के लिये धर्मध्यान करना चाहिये। और आत्मप्राप्ति के बाद शुद्धात्मा का ही ध्यान करना चाहिये। इसके अतिरिक्त जो भी ध्यान हैं वे सब घोर संसार के ही मूल के समान हैं।

आत्मानुभूति का मार्ग

जब कोई जीव वैराग्यादि योग्यताओं को प्राप्त करता है, तभी वह आत्मसम्मुख होता है। आत्मसम्मुख होने के पश्चात ही वह आत्मानुभूति कर पाता है। उस समय उसका 'मैंपन' ज्ञानसामान्यभावरूपी शुद्धात्मा से होता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि — अर्थात ज्ञानी — कहलाता है।

वैराग्यादि योग्यताओं के अभाव में आत्मा परसम्मुख या बहिरात्मा रहती है। जब तक पर में सुखबुद्धि बनी रहती है, तब तक आत्मानुभूति नहीं होती। बहिरात्मा व्यक्ति को यह भ्रम होता है कि सुख पर से प्राप्त होता है। इसलिये वह परवस्तु या परव्यक्ति के पीछे दौड़ता रहता है, और वांछित परवस्तु/परव्यक्ति मिलने पर उसके अधीन रहता है।

यदि कोई ऐसा सुख चाहता है जो कभी समाप्त न हो — अव्याबाध, नित्य और शाश्वत हो — तो वह केवल आत्मानुभूति से ही सम्भव है। आत्मानुभूति के बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश ही नहीं होता, और बिना आत्मप्राप्ति के अनन्त अव्याबाध सुखरूप मोक्ष की प्राप्ति असम्भव ही है।

एकमात्र आत्मप्राप्ति के लक्ष्य से वैराग्यप्राप्ति हेतु बारह भावना, चार भावना, धर्मध्यान, धन्यवाद! स्वागतम् ! (Thank you! Welcome!) इत्यादि करना चाहिये और स्वयं को जाँचते रहना चाहिये।

आत्मपरीक्षण के लिये स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए:

मुझे क्या प्रिय लगता है ?

मुझे किस वस्तु या व्यक्ति के प्रति मोह/मूर्च्छा है ?

मेरी तीव्र इच्छाएँ क्या हैं ?

ऐसा क्या है जिसके बिना मैं रह नहीं सकता ?

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट होगा कि मेरी बहिर्मुखता या परसम्मुखता कितनी है।

फिर इस बहिर्मुखता का उपचार — बारह भावना आदि के अभ्यास से —करते हुए अपने अभिप्राय को आत्मसम्मुख बनाते रहना ही आत्मानुभूति का मार्ग है।

- जयेश मोहनलाल शेठ

आध्यात्मिक प्रगति के लिये विज़िट करें
www.jayeshsheth.com

मैत्री भावना – सर्व जीवों के प्रति मैत्री चिन्तवन करना, मेरा कोई दुश्मन ही नहीं ऐसा चिन्तवन करना, सर्व जीवों का हित चाहना।

प्रमोद भावना – उपकारी तथा गुणी जीवों के प्रति, गुण के प्रति, वीतरागधर्म के प्रति प्रमोदभाव लाना।

करुणा भावना – अधर्मी जीवों के प्रति, विपरीत धर्मी जीवों के प्रति, अनार्य जीवों के प्रति करुणाभाव रखना।

मध्यस्थ भावना – विरोधियों के प्रति मध्यस्थभाव रखना।

आपके जीवन में सम्यग्दशर्न का सूर्योदय हो, और उसके आलोक से आपको अव्याबाध सुखस्वरूप सिद्ध अवस्था की प्राप्ति हो, यही मेरी अन्तरात्मा से अभिलषित मंगलमयी भावना है।

JSBN

ISBN

ISBN 978-93-5779-759-7
9 789334 369953